पं0 दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

एकात्म मानववाद : विभिन्न आयाम

प्रकाशक
अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

एकात्म मानववाद : विभिन्न आयाम

संपादक
डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह

ISBN-978-81-931312-3-7
© अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

संस्करण - प्रथम-2016

प्रकाशक
अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ
महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद-211002, दूरभाष : 0532-2466563
E-mail : nationalthought@gmail.com
Web : www.avap.org.in

मूल्य : ₹100

Printed and Published by Dr. Chandra Prakash Singh at Allahabad for Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, 21/16 Mahaveer Bhawan, Hashimpur Road, Tagore Town, Allahabad-211002

मुद्रक : तिरुपति इण्टरप्राइजेज, प्रयाग

विषय-सूची

1.	सम्पादकीय	v
2.	एकात्म मानववाद एवं आर्थिक विकास डॉ. सुब्रह्मण्यम स्वामी	1
3.	एकात्म मानववाद : राजनीतिक आयाम डॉ. महेश चन्द्र शर्मा	22
4.	एकात्म मानववाद : आर्थिक आयाम डॉ. बजरंग लाल गुप्ता	41
5.	प्राच्य भारतीय शिक्षा पद्धति एवं वर्तमान परिदृश्य सुश्री इन्दुमति काटदरे	58
6.	एकात्म मानववाद : विधिक आयाम प्रो0 हरबंश दीक्षित	78
7.	इक्कीसवीं सदी में एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता डॉ. महेश चन्द्र शर्मा	84
8.	दीनदयाल उपाध्याय के चिन्तन की प्रासंगिकता डॉ. कुलदीप चन्द्र अग्निहोत्री	92
9.	एकात्म मानववाद की आधार परिवार संस्कृति प्रो0 गिरीश चन्द्र त्रिपाठी	99

सम्पादकीय

एकात्म मानव दर्शन भारतीय समाज के लिए कोई नवीन चिंतन नहीं है। यह भारत की जीवन दृष्टि है। यह भारत की स्वतः स्फूर्त सहज चेतना है। भारत एकात्म है और जो एकात्म है वही भारत है। इतिहास साक्षी है कि भारत में एकात्म भाव का सुप्त होना ही उसके लिए संकट का कारण बना। समाज जीवन में इस एकात्मता की सुप्तता ने ही विदेशी शक्तियों को भारत की राज्य सत्ता पर अधिकार ज़माने का अवसर प्रदान किया और अधिकार जमाने के बाद विदेशी शक्तियों ने इस एकात्मता की चेतना को खंडित करने के लिए अपने राज्य शक्ति का प्रयोग किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब स्वकीय सत्ता की भारत में स्थापना हो गई तब यह स्वाभाविक था कि भारत की शासन व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, विधि व्यवस्था यानी राष्ट्र जीवन के सम्पूर्ण ताने-बाने की रचना एकात्मता की चेतना के आधार पर हो। परन्तु यह दुर्भाग्य रहा कि स्वतंत्रता के पश्चात् जो नेतृत्व सामने उभर कर आया वह स्वयं भारत की एकात्म चेतना से शून्य था। यही कारण था कि नव-रचना के जो उपादान खोजे गए या गढ़े गए उसमें भारत की रीति, नीति, परंपरा, प्रकृति और परिवेश का न कोई ध्यान रखा गया और न ही प्राचीन काल से विकसित राष्ट्र जीवन के आयामों को यथोचित स्थान प्राप्त हो सका। समाजवाद और पूँजीवाद जैसी विदेशी विचारधाराओं के आधार पर नये भारत के निर्माण की कोशिश प्रारम्भ हो गई। ऐसा लगा मानो भारत का अपना कोई आर्थिक, विधिक, शैक्षणिक और राजनैतिक चिंतन ही न रहा हो और यदि कुछ रहा भी है तो वह वर्तमान समय के लिए उपयुक्त नहीं है।

दीर्घकाल तक समाजवाद, पूँजीवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर चलने के पश्चात् भी राष्ट्र जीवन में जिस प्रकार समुन्नति दृष्टिगोचर होनी चाहिए थी वह आज भी दिखलाई नहीं पड़ रही है और न ही एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए अभीप्सित सद्भाव, समन्वय और समृद्धि ही परिलक्षित हो रही है। आर्थिक विषमता, बेरोजगारी, हिंसा, अपराध, प्राकृतिक असंतुलन, पर्यावरण प्रदूषण आदि विषमताएं दिनों दिन बढ़ती जा रही हैं। यह केवल भारत की ही स्थिति नहीं है अपितु उन देशों की भी ऐसी ही स्थिति है जिन देशों में उत्पन्न विचारधाराओं के आधार पर भारत ने अपना कदम आगे बढ़ाया है। अपनी ही भूमि में साम्यवाद असफल सिद्ध हो चुका है और पूँजीवाद नित्य प्रति नई-नई समस्याओं को खड़ा कर रहा है।

आज विकास की तरफ अग्रसर दुनिया का कैसा दृश्य हमारे सामने उपस्थित है? मनुष्य, मनुष्य से संघर्ष कर रहा है, मनुष्य अन्य जीवों के साथ संघर्ष कर रहा है, मनुष्य प्रकृति और पर्यावरण को नष्ट करने पर तुला है। कहीं सामंजस्य, मर्यादा और संतुलन का नामोनिशान नहीं, सर्वत्र संघर्ष। उसे यह पता ही नहीं कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव ही नहीं है और यदि उसे इसका आभास भी हो गया है तो आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह जिस रास्ते पर अपना कदम आगे बढ़ा चुका है अब उसे रोके कैसे? क्या इसके समाधान का कोई वैकल्पिक मार्ग है? आज उस वैकल्पिक मार्ग की तलाश न केवल भारत को अपितु पूरे विश्व को है।

स्वतंत्रता के बाद जब भारतीय चेतना को नकारा जा रहा था तभी पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसे कुछ मनीषियों ने आनेवाली विभीषिका के प्रति न केवल आगाह किया था, अपितु वर्तमान देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप भारत की प्रकृति, परंपरा, परिवेश को दृष्टि में रखकर भारत की एकात्म चेतना के धरातल पर भावी मार्ग की रूपरेखा प्रस्तुत किया, परन्तु यह दुर्भाग्य रहा कि उस पर जितना कार्य होना चाहिए था वह नहीं हो सका और न ही देश की नीतियों के निर्धारण में उससे कोई प्रेरणा ली गई। आज देश की परिस्थितियाँ इस बात के लिए विवश कर रही हैं कि आने वाले भविष्य के लिए संपोषणीय, पर्यावरण प्रेमी एवं सामाजिक सद्भाव को

बढ़ाने वाले मार्ग की तलाश की जाये। ऐसी परिस्थिति में पं. दीनदयाल उपाध्याय जी द्वारा सन् 1965 में प्रस्तुत किये गए देशज, समग्र एकात्म चिंतन अर्थात् एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। दीनदयाल जी अल्प समय में एकात्म मानववाद की मात्र आधारभूमि ही तैयार कर सके थे तभी उनका असामयिक एवं अस्वाभाविक महाप्रस्थान हो गया। उनके द्वारा प्रस्तुत सूत्रों के आधार पर वर्तमान चुनौतियों के सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान परंपरा के आलोक में विद्वतजनों द्वारा व्यापक कार्य की आवश्यकता है।

सन 2015 में एकात्म मानववाद के प्रतिपादन का अर्धशताब्दी वर्ष था, जबकि सन 2016 दीनदयाल उपाध्याय जी का जन्म शताब्दी वर्ष है। अतः ये दोनों वर्ष एकात्म मानववाद के स्मरण और आगे बढ़ाने की दृष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। देश की नीतियों के निर्धारण का आधार एकात्म मानव दर्शन तभी बन सकता है जब विश्वविद्यालयों में विविध क्षेत्रों में इस पर व्यापक शोध-कार्य हो। इसके लिए आवश्यक है कि एकात्म मानव दर्शन पर चर्चा विश्वविद्यालयों में प्रारंभ हो। अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ के संस्थापक प्रेरणा स्रोत श्रद्धेय अशोक सिंहल जी की इसी भावना को ध्यान में रख कर अनुसन्धान पीठ द्वारा इलाहाबाद, वाराणसी, दिल्ली, भोपाल आदि स्थानों पर एकात्म मानववाद के विभिन्न आयामों अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, विधि, राजनीति आदि पर संगोष्ठियों का आयोजन किया गया, जिसमें एकात्म मानव दर्शन का अनुशीलन और चिंतन करनेवाले देश के जाने-माने विद्वान सम्मिलित हुए। उनमें से कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार इस पुस्तक में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। आशा है यह प्रयत्न एकात्म मानव दर्शन के विचार को आगे बढ़ाने में किंचित मात्र सहायक सिद्ध होगा।

गंगा दशहरा, 14 जून 2016

चन्द्र प्रकाश सिंह

(डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह)

एकात्म मानववाद एवं आर्थिक विकास

डॉ0 सुब्रह्मण्यम स्वामी[1]

1969 में भारतीय जनसंघ के पटना सत्र में मेरे द्वारा प्रस्तुत 'स्वदेशी योजना' ने वामपंथियों को उत्तेजित किया। यह एक बेहद संवेदनशील राष्ट्रीय घटना थी, तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी, जो उस समय वित्त विभाग भी अपने पास रखती थीं, 4 मार्च, 1970 को लोकसभा के सदन में 1970-71 के बजट अधिवेशन की बहस के दौरान स्वदेशी योजना की निंदा कर मुझे 'खतरनाक' की संज्ञा दी। श्रीमती इंदिरा गांधी मेरी थीसिस के खिलाफ थीं, जिसके अनुसार अगर भारत प्रतिस्पर्धा बाजार की आर्थिक प्रणाली के लिए समाजवाद को छोड़ दे तो भारत में प्रतिवर्ष 10 प्रतिशत की वृद्धि से बढ़ने, आत्म-निर्भरता हासिल करने और परमाणु हथियारों के उत्पादन की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

1970 के दिनों में कुछ चुनिंदा लोग ही समाजवाद के खिलाफ प्रश्न उठाने की सामर्थ्य रखते थे। पूरा का पूरा वामपंथी बुद्धिजीवियों का मोर्चा मेरे खिलाफ खड़ा था, क्योंकि मैं सोवियत आर्थिक मॉडल को भारत के लिए आपदा के रूप में खारिज करता था। भविष्य में 1991 के वित्तीय संकट में मैं सही साबित हुआ। जब वाणिज्य मंत्री के रूप में, मेरे द्वारा पेश किया गया आर्थिक सुधारों की रूपरेखा का ब्लूप्रिंट नरसिम्हा राव की सरकार के द्वारा अपना लिया गया। आर्थिक मंदी से उबरकर अर्थव्यवस्था में अप्रत्याशित उछाल देखा गया।

---

[1]प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, सदस्य राज्यसभा, पूर्व विधि एवं न्याय मंत्री-भारत सरकार, अध्यक्ष अरुन्धती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

इसके उपरांत मेरी स्वदेशी योजना की, राष्ट्रीय स्तर पर बुद्धिजीवियों व मीडिया द्वारा श्रीमती इंदिरा गांधी के भरसक विरोध के बावजूद चर्चा हुई। इंदिरा जी के समय में उनके शिक्षा मंत्री नुरूल हसन ने दिल्ली में मुझे प्राध्यापक पद से बेदखल करवा दिया। (यह पद माननीय दिल्ली कोर्ट ने 20 साल बाद दुबारा मुझे प्रदान किया)

स्वदेशी योजना पं. दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद से प्रभावित थी। दत्तोपंत ठेंगडी की इस पर विशेष टिप्पणियाँ थीं। गुरुजी गोलवलकर, आर.एस.एस. के सर संघसंचालक ने भारत के लिए अनुकूल आर्थिक नीति के बारे में मुझसे बातचीत की। जब मैं 1970 में लंबे कार्यकाल के बाद अमरीका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में भारत लौटा गुरूजी ने मुझे काफी प्रेरित किया।

श्री गुरुजी, ने काफी समय पहले ही मानव समाज पर भौतिकवादी दृष्टिकोण के दुर्बल प्रभाव को देख लिया था। वैश्वीकरण की उपभोक्तावादिता का एहसास कर लिया था, जो हम आज की दशा में महसूस कर रहे हैं। उन्होंने भौतिक जीवन के लिए आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के समन्वय पर जोर दिया। स्वयं गुरूजी ने 1970 में मुझसे 'स्वदेशी' (आत्म-निर्भरता) और 'विकेंन्द्रीकरण', इन दो अवधारणाओं को हमारे समय की आर्थिक नीतियों के लिए उपयुक्त बताया था।

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि आर्थिक नीतियाँ हमारे प्राचीन राष्ट्र के आध्यात्मिक मूल्यों के साथ संगत होनी चाहिए। यह विचार पं. दीनदयाल ने एकात्म मानववाद के अपने शोध के रूप में विकसित किया है।

"पूँजीवादी और साम्यवादी, दोनों प्रणालियाँ आम आदमी के पूर्ण व्यक्तित्व और उसकी आकांक्षाओं को पूर्ण करने में विफल रही हैं। एक (प्रणाली) मात्र स्वार्थ, पैसे (भौतिकवाद) के पीछे भागना, जहाँ केवल एक ही कानून है, प्रतिस्पर्द्धा का कानून; जबकि दूसरे की पूरी योजना में एक कमजोर बेजान व्यक्तित्व, जो कठोर नियमों द्वारा विनियमित है, और कुछ भी अच्छा करने में असमर्थ, जब तक उसे निर्देशित न किया जाए। सत्ता का केंद्रीकरण, आर्थिक और राजनैतिक, दोनों में निहित है। दोनों प्रणालियों ने

मानवता के साथ खिलवाड़ किया है।'' (इंटिग्रल ह्यूमनिज्म, नवचेतन प्रेस, दिल्ली, 1965, पृ. 76)

दीनदयाल जी ने लोकतांत्रिक या 'गांधीवादी' समाजवाद को भी खारिज किया है, जो मानव के महत्त्व को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा है। उन्होंने कहा है, ''व्यक्ति की आवश्यकताओं और मान्यताओं को समाजवादी प्रणाली में उतना ही महत्त्व है, जितना जेल मैनुअल में होता है। गुरुजी के विचारों को ध्यान में रखते हुए ('बंच ऑफ थॉट्स', पृष्ठ 13) कि वर्ग-संघर्ष का विचार, जो समाजवाद में सन्निहित है, मानव विरोधी है। इसके बजाय वर्ग-सद्भाव और विवाद का हल ढूँढ़ना मानव की मूल प्रवृत्ति है। गुरुजी ने कहा है कि समाजवादी अवधारणा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ही नहीं, बल्कि 'एक तानाशाह पार्टी के तानाशाह की तानाशाही है।'

आज हम दीनदयाल जी के जन्मशताब्दी वर्ष के अवसर पर यह दावा करते हुए गौरवान्वित महसूस करते हैं कि उन्होंने देश को अपने एकात्म दृष्टिकोण द्वारा आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर करने में नई दिशा प्रदान की है- अर्थात् आर्थिक व्यवहार को आध्यात्मिक मूल्यों के साथ समावेश करने से एक खुशहाल समाज का उदय होगा। अपने देश में हमें अपनी आर्थिक नीतियों एवं इनके दिशा-निर्देशों का समावेश करना होगा। वह समय अब दूर नहीं है, जब जनादेश द्वारा शासन की नई प्रणाली से यह संभव हो सकेगा।

बाद में जब मैं 'दीनदयाल अनुसंधान संस्थान' (1971-75) का सचिव बना, तब मेरे लिए यह स्पष्ट हो गया कि दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद पर गुरुजी के विचारों का प्रभाव था और साथ ही दत्तोपंत ठेंगड़ी द्वारा रचित 'एकात्म मानववाद, एक अध्ययन' (राष्ट्र-धर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ, 1970) और उनके 'आर्थिक व्यवस्था की भारतीय संकल्पना' (द पर्सपैक्टिव, साहित्य सिंधु पब्लिशर, बेंगलुरू, 1971 में प्रकाशित), जिसमें ठेंगड़ी जी ने गुरुजी के प्रवचनों को, जो उन्होंने निधन से पूर्व थाणे, महाराष्ट्र में 1973 में दिए थे, बड़े संक्षेप में वर्णन किया था। ये लेख 'ऑर्गेनाइजर' साप्ताहिक में छपे थे, जो दत्तात्रेय होसबले जी ने मेरे लिए पुनः

एकत्र किए, जिनका मैं आभारी रहूँगा। आर.एस.एस. के पूर्व सरसंघचालक श्री सुदर्शन जी के साथ हमारी मुलाकात पर सुदर्शन जी ने मुझे कुछ बहुमूल्य सुझाव दिए, जो मैं ने यहाँ पर संलग्न किए हैं।

1977 में डॉ. महेश मेहता के आमंत्रण पर मैं ने न्यूयॉर्क शहर में 'एकात्म मानववाद में आर्थिक परिप्रेक्ष्य' प्रस्तुत किया। जो बाद में (महेश मेहता द्वारा संपादित एक पुस्तक में), उपाध्याय का 'एकात्म मानववाद' शीर्षक (ऐडिसन, न्यू. ज., 1978) से प्रकाशित हुआ।

इन शोध और कार्यकलापों पर आधारित मैंने यह अध्याय लिखा है।

1. आर्थिक नीति की संरचना

इस पाँच आयामी ढाँचे में आर्थिक नीति की संरचना इस प्रकार है - (i) उद्देश्य, (ii) प्राथमिकताएँ, (iii) रणनीति, (iv) संसाधन जुटाने के उपाय और (v) संस्थागत वास्तुकला द्वारा इसे परिभाषित किया जा सकता है। सबसे पहले हम आर्थिक नीति के पहले आयाम उद्देश्यों के विषय में चार मुख्य विचारधाराओं, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद और एकात्म मानववाद की समीक्षा करें। सिद्धांत रूप में साम्यवादी राज्य के लिए अधिकतम उत्पादन को अपना लक्ष्य मानते हैं, जबकि पूँजीवादी विचारधारा का आर्थिक लक्ष्य जंगल की परिकल्पना की तरह बिना किसी बाधा (लैसेज फेयर) के अदृश्य शक्ति द्वारा निर्देशित योग्यतम की उत्तरजीविता सिद्धांत पर आधारित, निर्माता के लिए अधिकतम उत्पादन लाभ और कामगार द्वारा भौतिक वस्तुओं की अधिकतम उपभोग है। समाजवादी व्यवस्था का लक्ष्य नागरिकों के कल्याण के लिए राज्य के द्वारा बीमारी, मृत्यु, बेरोजगारी के जोखिम पर सुरक्षा की गारंटी द्वारा मापा जाता है। यही समाजवाद के तहत कल्याण की अवधारणा है।

जबकि दीनदयालजी ने बताया है कि ये सभी लक्ष्य पूरी तरह भौतिकवादी हैं और मानव के विकास के रास्ते में रुकावट हैं। मानव विकास को समग्रता और पूर्णता से देखा जाना चाहिए। इसीलिए दीनदयाल जी ने एकात्म मानववाद में आर्थिक नीति के प्राथमिक लक्ष्य के रूप में भौतिकवादी लक्ष्यों को आध्यात्मिक अनिवार्यताओं के साथ सम्मिश्रण की वकालत की है। गुरुजी ने अपनी पुस्तक

'बंच ऑफ थॉट्स' (अध्याय 1पृष्ठ 5) में कहा है, ''सभी प्रयास और प्रयोग अब तक भौतिकवाद पर आधारित थे। जबकि हम हिंदुओं के पास समाधान उपलब्ध हैं। गुरुजी ने इसी संदर्भ में काफी जोर दिया कि 'स्वावलंबन या आत्म-निर्भरता एक स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी हैं।...' (पृष्ठ 313) और कम-से-कम 'आत्मपूर्ति' (खाद्य उत्पादन में आत्म-निर्भरता) हमारे राष्ट्र सुरक्षा के लिए बेहद जरूरी है।''(313)

स्वावलंबन और आत्मपूर्ति में यह अंतर है कि पहले की यह मान्यता है कि हमें अपने स्वयं के संसाधनों पर निर्भर रहना चाहिए, यानी अगर किसी वस्तु की कमी हो गई है तो हमें निर्यात से कमाई हुई विदेशी मुद्रा से उसे आयात करें। इसका तात्पर्य है कि हमें अपने संसाधनों पर निर्भर रहना चाहिए। दूसरे, आत्मपूर्ति की अवस्था में हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में उत्पादन हो कि हमें किसी प्रकार की कमी न हो, हमें केवल अपने स्वयं के स्वदेशी उत्पादन पर निर्भर रहना चाहिए। आज हम पाते हैं कि हमारा राष्ट्र खाद्य आत्म-निर्भरता (आत्म-पूर्ति) से हटकर फिर से विदेशों से आयात पर निर्भर हो गया है। किसान आत्महत्या कर रहे हैं, कृषिभूमि रसायन और विदेशी बीजों के प्रयोग से कम उत्पादक और बंजर हो गई है। गुरुजी की उस समय चेतावनी थी- हमें अपनी आर्थिक नीति को खाद्य पदार्थों के उत्पादन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए व आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ने के लिए जैविक खेती, वन ऊर्जा और सहकारी प्रयास के रूप में पर्यावरण के अनुकूल बनानी चाहिए।

दीनदयाल जी ने 'आर्थिक नीति के भारतीय उद्देश्य, किस प्रकार विदेशी विचारधाराओं पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद से अलग हैं, इसको उजागर किया। दीनदयाल जी ने चातुर्विध पुरुषार्थ के आत्मसात् एवं समन्वय के आधार पर 'एकात्म मानव' की परिकल्पना को प्रतिपादित किया, जिसे उन्होंने अपने एकात्म मानववाद में विस्तृत अवधारण के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने चिति, जो राष्ट्र की आत्मा है, की अवधारणा को प्रस्तुत किया, जिसका प्रत्येक राष्ट्र को अपनी आर्थिक नीतियों के सही निर्माण के निर्णय करने के लिए पता होना चाहिए। राष्ट्र की चिति की

अवधारणा दीनदयाल जी का बहुमूल्य योगदान है।

इस प्रकार आर्थिक परिप्रेक्ष्य में पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद से एकात्म मानववाद आधारभूत रूप से अलग हैं। स्वयं दीनदयाल जी के अनुसार, "पूँजीवाद और साम्यवाद, ये दोनों प्रणालियाँ एकात्म मानव के स्वरूप को और उसके संपूर्ण व्यक्तित्व और आकांक्षाओं को सही तरह से समझाने में विफल रही हैं। पूँजीवाद मनुष्य को मात्र स्वार्थी, पैसे के पीछे भागने वाला, जो जंगल के कानून के मूल तत्त्व पर आधारित केवल एक भयंकर प्रतिस्पर्धा वाले कानून को जानता है, ऐसा मनाता है। जबकि साम्यवाद मनुष्य को कठोर नियमों द्वारा संचालित, बिना निर्देशों के कुछ भी अच्छा करने में असमर्थ, चीजों की पूरी संरचना में एक कमजोर बेजान दाँत के रूप में देखता है। दोनों ही अवस्थाओं में आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का केंद्रीकरण निहित है। दोनों ही प्रणालियों का परिणाम मानव का अमानवीकरण है।" (एकात्म मानववाद, नवचेतन प्रेस, दिल्ली 1965, पृष्ठ 76)

दीनदयाल जी "तथाकथित लोकतांत्रिक समाजवाद को बेहतर विकल्प न मानते हुए तर्क देते हैं।" (पृष्ठ 74-75)

"समाजवाद का पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के कारण उद्‌भव हुआ, लेकिन समाजवाद भी मानव के महत्त्व को स्थापित करने में विफल रहा है। समाजवादी प्रणाली में व्यक्ति की आवश्यकताओं और वरीयताओं को उतना ही महत्त्व है जितना जेल मैनुअल में है।"

इसीलिए उपाध्यायजी ने अपने एकात्म मानववाद के लिए कहा (पृष्ठ 76-77) है कि-

"मानव भगवान् की उत्कृष्ट देन है, जो अपनी पहचान खो रहा है। हमें उसको सही स्थिति में फिर से स्थापित करना चाहिए, उसे उसकी महनता की पहचान, उसकी क्षमताओं को जगाने और ऊँचाइयों को प्राप्त करने के लिए, उसके दिव्य अव्यक्त व्यक्तित्व को फिर से जगाने के लिए उसे प्रोत्साहित करना चाहिए। यह केवल अर्थव्यवस्था के विकेंद्रीकरण द्वारा संभव है। उन्होंने आगे कहा : (पृष्ठ 78)

"स्वदेशी और विकेन्द्रीकरण, वर्तमान परिस्थितियों में ये दो शब्द

आर्थिक नीति का संक्षेप में वर्णन करने के लिए उपयुक्त हैं।

दीनदयाल जी एकात्म चिंतन की आवश्यकता पर बल देते थे, जिसे आज फैशन के रूप में पश्चिम में 'प्रणाली विश्लेषण या समग्र दृष्टिकोण' कहा जाता है। उन्होंने जीवन में 'परस्पर पूरकताओं' को पहचान कर आदमी को स्वाधीन करने की आवश्यकता पर बल दिया है। आदमी अपने आप में स्वयं या अकेला नहीं है। दीनदयाल जी ने अपने तर्क द्वारा वर्ग-संघर्ष को अस्वीकृत करते हुए वर्तमान में पश्चिम में प्रचलित संघर्ष के संकल्प और वर्ग सद्भाव, जिससे पूंजीवाद के कारण तेजी से मोहभंग हो रहा है पर विचार की आवश्यकता की बात कही। उसी तरह गुरुजी ने साम्यवाद के 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' पर कटाक्ष किया है। उनके अनुसार यह वास्तव में 'एक तानाशाह पार्टी के तानाशाह की तानाशाही है।' (पृष्ठ 13) यह कितना अकाट्य सत्य है!

यदि हम पश्चिम की तरह सामाजिक तनावग्रस्त नहीं होना चाहते, तो वह रास्ता जो हम वर्तमान में चुन चुके हैं, अर्थात् नेहरूजी का बनाया हुआ मार्ग पूरी तरह से त्याग देना होगा। सिर्फ आंशिक रूप से छोड़ने से वह राष्ट्रहित के लिए अच्छा न होगा। भौतिकावादी पूँजीवाद का विकल्प साम्यवाद नहीं है, क्योंकि कम्युनिस्ट देशों में भी 'अलगाव, और शोषण' की समस्या पायी गयी है, जो कि हाल ही में विभिन्न तथ्यों द्वारा उजागर हुआ है।

दीनदयाल जी को 1965 के शुरुआती दिनों में ही कम्युनिस्ट अधःपतन की जानकारी हो गयी थी। तार्किक रूप से, कोई भी प्रणाली, जो मानव की प्रधानता स्वीकार नहीं करती, अंत में पतन की ओर अग्रसर होती है।

दीनदयाल जी, कम्युनिस्ट देशों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए 'दि न्यू क्लास' के लेखक एम. दिजिल्स का हवाला देते हैं कि 'नौकरशाहों, शोषकों का एक नया वर्ग अस्तित्व में आ गया है।'

इस प्रकार अपने एकात्म मानववाद को पेश कर दीनदयाल उपाध्याय जी ने दुनिया के सामने एक नया मौलिक वैकल्पिक वैचारिक ढाँचा रखा है। एकात्म मानववाद में सन्निहित बिलकुल अलग तरह के मौलिक आर्थिक नीति के इस ढाँचे को स्वीकार करते हुए मैं संदर्भ के लिए, विभिन्न वैकल्पिक विचारधाराओं के संरचनात्मक मापदंड जैसे, उद्देश्यों, प्राथमिकताओं,

विकास रणनीति, संसाधन जुटाने और संस्थागत ढाँचे को नीचे सारणी के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

हम सारणी पर ध्यान दें कि एकात्म मानववाद का आर्थिक परिप्रेक्ष्य मौलिक एवं अन्य विचारधाराओं से अलग है। पूँजीवाद और साम्यवाद में उद्देश्यों और संस्थागत ढाँचें के मामले में समानता है। अगर उत्पादन की लागत स्थिर है, तो अधिकतम लाभ और अधिकतम उत्पादन दोनों में एक समान हैं।

वर्ग-संघर्ष, विनाश और योग्यतम का अस्तित्व में रहना केवल उस हद तक अलग है कि साम्यवाद में योग्यतम वर्ग के उत्तरजीविता की परिकल्पना की गई है, जबकि पूँजीवाद में योग्यतम व्यक्ति के भयंकर प्रतिस्पर्धा में रहकर अन्य प्रतिद्वंद्वियों के विनाश करने की। इसी तरह, समाजवाद व साम्यवाद के बीच 'बल प्रयोग और नियंत्रण' को लेकर कुछ ही अंतर है- मौलिक अंतर नहीं है। यही कारण है कि साम्यवाद बहुधा 'वैज्ञानिक' समाजवाद के रूप में जाना जाता है, हालाँकि इसमें कुछ भी वैज्ञानिक नहीं है।

एक समाजवाद दूसरे समाजवाद से अंश भर ही अलग है, इसलिए, हिटलर के नाजीवाद से लेकर, युगांडा के ईदी अमीन, भारत की इंदिरा गांधी, स्वीडन का लोकतांत्रिक समाजवाद तक समाजवाद की असंख्य किस्में प्रचलित हैं। इसी वजह से भ्रम की स्थिति और पाखंड के लिए पर्याप्त गुंजाइश बनी हुई है। इस प्रकार हम भारत के कुछ लोगों के द्वारा एक ओर तो राष्ट्रीयकरण और मितव्ययता पर बहस करते हुए सुनते हैं तो दूसरी ओर वे बड़े-बड़े बँगलों में रहते हुए विदेशी सहयोग को प्रोत्साहित करते हैं। इस तरह की विसंगतियों के कारण समाजवाद के इन प्रकारों की समय-समय पर अपने अनुकूल व्याख्या की जाती है।

सूची विचारधारा तालिका				
आयाम	**पूँजीवाद (एडम स्मिथ)**	**समाजवाद (हैरोल्ड लस्की)**	**साम्यवाद (कार्ल मार्क्स)**	**एकात्म मानववाद (दीनदयाल उपाध्याय)**
1. उद्देश्य	तीव्रतम–ऊर्जा से अधिकतम लाभ और अधिकतम उपभोग	अधिकतम भौतिक कल्याण और आपदा के विरुद्ध बचाव	अधिकतम उत्पादन	राष्ट्रीय विकास का अनुकूलतम संश्लेषण और वैश्विक कल्याण, स्वावलंबन (आत्मनिर्भरता)
2. प्राथमिकताएँ	तीव्रतम ऊर्जा से संसाधनों का शोषण	वेतन, पेंशन और बेरोजगारी की न्यूनतम भौतिक मानक की आश्वस्ति	राज्य के लिए धन के निष्कासन के लिए जनता का व्यवस्था आधारित प्रपीड़न की प्रधानता	चतुर्विध पुरुषार्थ के संतुलित विकास द्वारा मानव की प्राथमिकता (अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष)
3. विकास रणनीतियाँ	श्रम बचत की पूँजी–प्रधान तकनीकी की प्रधानता, जो शक्ति दुनिया भर में मुक्त व्यापार का उपभोग करे	उच्च नियंत्रण का राष्ट्रीयकरण और आवश्यक वस्तुओं का सार्वजनिक वितरण	उत्पादन के हर क्षेत्र में पूर्ण स्वामित्व . विदेशी व्यापार हतोत्साहित	विवाद का समाधान और पूरकताओं के द्वारा सामंजस्य

4. संसाधन जुटाना	प्रोत्साहन और अत्यधिक खर्च की प्रवृत्ति. विनाशकारी वातावरण	कराधान एवं नियंत्रण और लाइसेंसिग	आमदनी पर पूर्ण नियंत्रण और निर्धारित उपभोग। अनुशासित मूल्य एवं व्यापार शर्तें	न्यासी भावना और पवित्रता। संपति के चार स्रोत– विद्या, शस्त्र, धन और भूमि
5. संस्थागत	योग्तम का अस्तित्व मुक्त बाजार में अहस्तक्षेप की नीति। अदृश्य शक्ति	प्रशासनिक नियंत्रण, कोटा प्रणाली में लाइसेंस और सरकारी नियंत्रण	द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही	विकेन्द्रीकरण, पंचायती राज और लोगों को स्वरोजगार

सन्दर्भ : स्मिथ, एडम : वेल्थ ऑफ नेशन
लास्की, हेरोल्ड : ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स
मार्क्स, कार्ल : दास कैपिटल
उपाध्याय, दीनदयाल : एकात्म मानववाद

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि संपूर्ण मानवता और मानव विकास का विचार एकात्म मानववाद को छोड़कर किसी भी विचारधारा या प्रणाली में नहीं किया गया है। सम्पूर्ण मानवता स्पष्ट रूप से या परोक्ष रूप से इन व्यवस्थाओं के अधीन है। साम्यवाद के अंतर्गत मानव को स्पष्ट रूप से व्यवस्था के अधीन राज्य के हित में काम करना है। राज्य हित में बल प्रयोग या जोर जबरदस्ती वैध है। यहाँ तक कि आजीविका या व्यवसाय, काम करने का स्थान, उन्नति के अवसर, यह सब राज्य द्वारा कड़ाई से निर्धारित होते हैं। ऐसे देशों में मानव के लिए कुछ भी करने का अधिकार या उस प्रणाली से बाहर निकलने के विकल्प के लिए जगह नहीं है, क्योंकि उसे देश से बाहर यात्रा करने की अनुमति भी नहीं है।

पूँजीवाद में व्यक्ति को 'मनोनुकूल कार्य करने' की तकनीकी स्वतंत्रता हो सकती है, लेकिन वह तंत्र उसकी विविध प्रकार की क्षमताओं और कुशलता को व्यवस्था के साथ समायोजित करने में विफल है। जंगल के कानून में योग्यतम ही अस्तित्व में रह सकता है, कुछ ही ऐसे होते हैं जो महान् उन्नति हासिल करते हैं, अन्य अक्षम या कमजोर को रौंद डाला जाता है, इसे ही 'चूहा-दौड़' कहते हैं। जब से केवल नयी और अद्यतन तकनीकी द्वारा अधिकतम लाभ संभव हुआ है, तब से मनुष्य तकनीकी की भयावह मांग के समायोजन के लिए है, बजाय मनुष्य की एकात्म आवश्यकताओं के अनुसार तकनीकी को समायोजित करने के। ऐसे में संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित पूँजीवादी देशं साक्षी हैं कि वहाँ घर-घर में विघटन/अलगाव, तलाक की उच्च दर, पारिवारिक जीवन नष्ट हो चुका है। क्योंकि वहाँ तकनीकी ने बढ़ते हुए मांग को बनाये रखने के लिए उथल-पुथल मचा दिया है। अतः मनुष्य इन माँगों के अनुकूल ढल जाये या विनष्ट हो। इस तरह का विकास एक ऐसी व्यवस्था के लिए अनिवार्य है जिसमें श्रमशक्ति का अभाव मशीनों की रचना का मार्गदर्शक कारक हो।

इस तरह पूँजीवाद में, अहस्तक्षेप नीति के अंतर्गत, यद्यपि मानव को तकनीकी स्वतंत्रता है, परन्तु विकास रणनीति प्रौद्योगिकी की प्रधानता देने की है, इसलिए परोक्ष रूप से मानव व्यवस्था के अधीन हो जाता है। ऐसे

समाज में व्यक्तित्व अन्य प्रकार से बाहर प्रकट होता है, जैसे अपराध, मुक्त सेक्स, मादकता और विद्रोही आन्दोलन आदि। पिछले कुछ समय से पश्चिम का भारतीय साधु-संतों और हिन्दू धर्म के प्रति बढ़ता हुआ झुकाव उस वैयक्तिकता की खोज के लिए है, जिससे मानसिक तनाव से बचा जा सके, जो इस प्रकार की तकनीकी लोगों में उत्पन्न करती है। उनके धर्म-प्रचारक इन्हें इस समस्या से मुक्त कराने में सक्षम नहीं हैं।

जैसे योग्यतम की उत्तरजीविता मानवता विरूद्ध है, उसी प्रकार वर्ग-संघर्ष भी, जो मार्क्सवाद का आधार है, मानव के हित में नहीं है। साम्यवाद के अंतर्गत वर्ग को प्रचंड वर्ग-संघर्ष से समाप्त किया जाता है। जाहिर है, इस तरह की प्रचंडता से नफरत और तनाव का ही उदय होगा, जो पूरी तरह से मानवता के विरुद्ध है। हमने साम्यवादी देशों में ऐसी अमानवता एक हद तक देखी है। उदाहरणस्वरूप, सोवियत संघ में अलेक्जेंडर सोल्जनिस्तन, एंड्री सखारोव जैसे प्रमुख बुद्धिजीवियों को राज्य द्वारा कठोर दंडों का समाना करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने इस अमानवीय प्रक्रिया के खिलाफ आवाज उठाई थी। मार्क्सवाद अंत में हर जगह असफल रहा, यहाँ तक कि अब सोवियत संघ में भी ढह चुका है। मार्क्सवादी आर्थिक प्रणाली की तुलना और बाजार अर्थव्यवस्था की तुलना में अंतर स्पष्ट है।

यह जानना बहुत महत्वपूर्ण है कि एक समान इतिहास के देशों में जिन्होंने सोवियत संघ के आर्थिक मॉडल को अपनाया है उनका उन समकक्ष देशों की तुलना में बहुत ही खराब प्रदर्शन रहा जिन्होंने आर्थिक बाजार रणनीति अपनाई। आगे तालिका में इस दशा को दर्शाया गया है- उत्तरी जर्मनी या पश्चिमी जर्मनी के साथ और उत्तर कोरिया का दक्षिण कोरिया के साथ तुलना के रूप में तालिका में इस दशा को दर्शाया गया है।

भारत के आंकड़े भी प्रदर्शित करते हैं कि, जब भारत ने सोवियत आर्थिक नीति के अंतर्गत ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की तुलना में उच्च घरेलू उत्पाद की विकास दर हासिल किये, तब भी वह अप्रभावी रूप से औसत 3.5 प्रतिशत ही रही। 1980-90 में यह बढ़कर 5.6 प्रतिशत हो गई, 1998-2003 में प्रतिवर्ष लगभग 6 प्रतिशत, जो बढ़कर 2003-2008 में

9 प्रतिशत हो गई।

इस प्रकार, सोवियत संघ की रणनीति के परिणाम जनता द्वारा जुटाए संसाधनों या राष्ट्र की भावी विकास क्षमता के अनुरूप कदापि नहीं पाए गए। 1947 से 1991 तक भारतीय अर्थव्यवस्था प्रतिवर्ष 4 प्रतिशत औसत की दर से बढ़ी, जबकि इस अवधि में अलग रणनीति अपनाने वाले देशों ने प्रतिवर्ष 10-12 प्रतिशत विकास दर हासिल की। ऐसा कोई कारण नहीं था कि हमारी विकास दर इतनी कम हो, जबकि हम दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी इंजीनियरिंग और वैज्ञानिक मानव शक्ति हैं, जिसकी सकल घरेलू उत्पाद की उच्च बचत दर 23 प्रतिशत है। तथाकथित 'चार टाइगर्स', अर्थात् दक्षिण कोरिया, ताइवान, हांगकांग और सिंगापुर कम प्रशिक्षित मानव शक्ति और बहुत कम प्राकृतिक संसाधनों के साथ तीसरी दुनिया के वर्ग से ऊपर निकालकर पहली दुनिया की स्थिति (नव औद्योगिक देश-एन.आई.सी.) में सिर्फ एक पीढ़ी में पहुँच गए। उदाहरण के लिए, दक्षिण कोरिया की प्रति व्यक्ति आय 1962 में 82 डॉलर थी, जबकि भारत की 70 डॉलर थी। आज दक्षिण कोरिया की प्रति व्यक्ति आय भारत के वर्तमान स्तर की 13 गुना है।

तुलनात्मक आर्थिक विकास के आँकड़ेः उ./द. कोरिया (1995-96) तथा पू./प. जर्मनी

	दक्षिण कोरिया	उत्तर कोरिया	दक्षिण/उत्तर अनुपात	पश्चिमी जर्मनी	पूर्वी जर्मनी	पश्चिमी पूर्वी अनुपात
1	2	3	4	5	6	7
जनसंख्या (दस लाख)	44.9	23.9	1.9	62.1 1	6.6	3.8
सकल घरेलू उत्पाद (अरब)	451.7	22.3	20.3	1.207	96	12.6
प्रति व्यक्ति आय आर्थिक विकास (%)	10,067	957	10.5	19,283	5,840	3.3
प्रतिवर्ष 1990–1995	+7.6	-4.5	-	3.0	-0.8	-
सरकारी व्यय (अरब)	97.1	19	5.1	547.7	61.8	8.9
(जी.एन.जी का %)	(21.5)	85		(45.5)	(64.4)	
रक्षा व्यय (अरब)	14.4	5.2	2.8	28.5	11.2	2.6
(जी.डी.पी. का %)	(3.2)	(23)		(2.5)	(11.6)	
प्रति व्यक्ति	318	218	1.5	459	675	0.7
विदेशी व्यापार अरब	260.2	2.05	126.9	611.1	47.0	13.0
(जी.एन.जी का %)	(57.6)	(9.2)	(50.6)	(49)		
माल का निर्यात (अरब)	125.1	0.74	169	341.3	23.7	14.4

दक्षिण कोरिया		उत्तर कोरिया	दक्षिण/उत्तर अनुपात	पश्चिमी जर्मनी	पूर्वी जर्मनी	पश्चिमी पूर्वी अनुपात
1	2	3	4	5	6	7
माल का आयात बिलियन	135.1	1.31	103	269.8	23.3	11.5
विदेशी ऋण बिलियन (जी.एन.जी का %)	79 (17.5)	11.8 (53)	6.6	106.7 (8.8)	22 (23)	4.9
जीवन प्रत्याशा	72.0	70.5	1.02	75.0	74.0	1.01
वर्षों में (1995)						
शिशु मृत्यु प्रति 1000 जन्म पर (1995)	10	26	0.28	7.4	7.5	0.99
ग्रामीण जनसंख्या (कुल का %)	19	39	0.49	3.7	10.8	0.34
रेडियो प्रति हजार निवासियों पर (1989)	1,003	207	2.9	83%	99%	0.84
टेलिविजन प्रति हजार निवासियों पर (1989)	207	14	14.8	94%	57	1.65

स्त्रोत : नैशनल यूनिफिकेशन बोर्ड, बैंक ऑफ कोरिया, स्टेटिसटिक्स बुंडेसम्ट,स्टेटिसटिक्स जारनुश्डर, वर्ल्ड बैंक

एकात्म मानववाद के तत्त्वों की अभिधारणा : मैं आगे अन्य विचारधाराओं के दोष पर कोई ध्यान केंद्रित नहीं करना चाहता, लेकिन ठोस सकारात्मक दृष्टि से, आर्थिक परिप्रेक्ष्य में दीनदयालजी का एकात्म मानववाद क्या प्रदान करता है, इस पर विचार करने की आवश्यकता है। मैं बुनियादी आर्थिक मामले में अपने विचारों को व्यवस्थित कर आधुनिक सैद्धांतिक शब्दावली का उपयोग कर तत्त्वों को रेखांकित कर रहा हूँ।

अभिधारणा 1 : अर्थव्यवस्था सामाजिक विकास की मार्गदर्शक कारक न होकर समाज की उप-व्यवस्था है। अतः कोई भी आर्थिक प्रमेय (theorem) पहले यह जाने बिना नहीं सूत्रबद्ध किया जा सकता कि जीवन एक एकात्म व्यवस्था है, इसलिए जो कुछ आर्थिक नियम बनाए जाएँ संहिताबद्ध किये जाएँ उसमें मानव के एकात्म विकास को निश्चित रूप से जोड़ा जाये अथवा कम से कम घटाया तो न ही जाये। मानव की दैवी चेतना और उत्थान का केंद्रबिंदु चार पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं।

अभिधारणा 2: जीवन में विविधता और बहुलता है। मनुष्य कई आंतरिक विरोधाभासों के अधीन है। विविधताएं बहुलताएं तथा आंतरिक विरोधाभासों का समाधान सद्भावपूर्ण समन्वय से किया जाना चाहिए। इसके लिए सद्भाव पर आधारित संबंधित कानूनों की खोज और उन्हें संहिताबद्ध करना होगा, जिसे हम धर्म कहते हैं। धर्म पर आधारित अर्थव्यवस्था इस प्रकार की होगी, जिसमें मानव व्यक्तित्व और स्वतंत्रता की अधिक-से-अधिक व्यापकता और समाज हित के लिए जागृत हो।

अभिधारणा 3: राज्य की बलपूर्वक शक्ति और धर्म के बीच एक नकारात्मक सह-संबंध है। धर्म के अनुसार मनुष्य के लिए नियमों की स्वीकृति स्वैच्छिक है, क्योंकि यह उनकी व्यक्तिगत और सामूहिक आकांक्षाओं के साथ संलग्न हो जाता है, जबकि राज्य के नियमों/कानूनों और आकांक्षाओं में बहुधा विरोधाभास हो जाता है, अतः नियम के पालन के लिए व्यक्ति बलपूर्वक बाध्य होता है या पीड़ित होता है।

अभिधारणा 4: समान उत्पत्ति, इतिहास व संस्कृति वाले व्यक्तियों के समाज की एक चिति (आत्मशक्ति) होती है। यह चिति ही उनमें

एकात्मता और सद्भाव स्थापित करती है। प्रत्येक देश को अपने चिति की खोज कर उसे सजगता पूर्वक पहचानना चाहिए। फलस्वरूप, प्रत्येक देश को अपने विकास की रणनीति को अपनी चिति के आधार निर्धारित करना चाहिए। यदि वह अन्य देशों का नकल या दोहराने की कोशिश करता है, तो उसके लिए दुःख की स्थिति होगी।

अभिधारणा 5: चिति की अवधारण और धर्म की मान्यता पर आधारित एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था विकसित की जा सकती है, जिससे समाज के परस्पर विरोधी और हितों के मध्य संपूरकताओं को खोज कर जीवन के पारस्परिक अंतर-संतुलन को युक्तिसंगत बनाया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक विकल्प की व्यवस्था को प्रदर्शित करेगी जो व्यक्तिगत मूल्यों के समुच्चय पर आधारित होगी।

अभिधारणा 6: कोई भी अर्थव्यवस्था जो एकात्म मानवतावाद पर आधारित है, सामान्य लोकतांत्रिक मौलिक अधिकारों के साथ, भोजन का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, कार्य का अधिकार, मुफ्त चिकित्सा, देखभाल करने के बुनियादी अधिकार प्रदान करती है।

अभिधारणा 7: संपत्ति का अधिकार मौलिक नहीं है, लेकिन आर्थिक विनियमन पूरकता पर आधारित होगा, जो संपत्ति के सामाजिक स्वामित्व के विरोधाभास और बचाने एवं उत्पादन के लिए प्रोत्साहन की अनिवार्यता में विद्यमान है।

यह सात अभिधारणाएँ एकात्म मानववाद की आर्थिक नीति के आधार का प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतीय समाज के अधिकांश प्रसिद्ध नारों का आधार इनमें से एक अथवा अधिक, अभिधारणाओं से लिए गये हैं। उदाहरणस्वरूप, स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान स्वदेशी या आत्मनिर्भरता का प्रभावशाली आह्वान अभिधारणा चार से लिया गया है। विकेंद्रीकरण की लोकप्रिय माँग अभिधारणा तीन से ली गई है। पर्यावरण की देखभाल और प्रदूषण नियंत्रण के आधुनिक विश्वव्यापी प्रचलित नारे का मुख्य स्त्रोत अभिधारणा पांच में पाया जा सकता है। व्यापक वैज्ञानिक सहमति है कि इष्टतम समाधान केवल 'व्यवस्था विश्लेषण' के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है यह

अभिधारणा एक में निहित है। महात्मा गांधी द्वारा न्यासधारिता (Trusteeship) का पक्षपोषण अभिधारणा दो और सात में एक साथ अंतर्निहित पाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ये 7 अभिधारणाएँ, अकेले या संयुक्त रूप से विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न लक्ष्यों का परिकल्पना और संश्लेषण करती हैं, जिनमें भारत की आत्मा (या इसकी चिति), का प्रकटीकरण है।

इन अभिधारणाओं के साथ हमें हमारे आर्थिक विकास के लिए व्यावहारिक दिशा-निर्देशों को प्राप्त करने की जरूरत है, यह करने के लिए अभिधारणा पाँच बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सबसे पहले हमें विभिन्न संपूरकताओं को सूचीबद्ध करना होगा। दूसरे लागत और लाभ की गणना करके इन विभिन्न सम्पूरकताओं को एकीकृत करना होगा और अंत में अलग-अलग व्यक्तिगत मूल्यों पर आधारित सामाजिक विकल्प कैसे खड़ा हो इसके लिए ढांचागत नियमों का निर्धारण करना होगा।

संपूरकता का एक उदाहरण है, एक फूलवाटिका का किसान, जिसका पड़ोसी शहद का निर्माण करता है। शहद निर्माता की मक्खियाँ सहजतापूर्वक बाग के फूलों का रसपान करती हैं, इस सुविधा के लिए दोनों की कोई लागत नहीं है, पर दोनों को लाभ है। यह संपूरकता का सकारात्मक उदाहरण है। नकारात्मक संपूरक में प्रदूषण का एक उदाहरण है। उदाहरण के लिए एक उर्वरक संयंत्र और तेल रिफाइनरी की स्थापना द्वारा निश्चित रूप से व्यापक पैमाने पर उस क्षेत्र के लोगों को रोजगार प्राप्त होगा। लेकिन इन कारखानों द्वारा उत्पन्न विषाक्त गैसें जनता के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं जो पूरे क्षेत्र के श्रमिकों की उत्पादकता को कम कर देती हैं। तो कुल मिलाकर यह राष्ट्र की क्षति है।

यदि एकात्म मानववाद का पालन करें, तो हमें सकारात्मक सम्पूरकों का चयन कर नकारात्मकता का त्याग करना होगा। इसके लिए हमें हमारी शहरी आवासीय व्यवस्था की योजना को इस प्रकार बनाना होगा कि वातावरण को विषाक्त बनाने वाली मशीनें शहर के आवासीय केंद्रों से काफी दूर हों, या वैसे ही कठोर पर्यावरण के उपाय अपनाने होंगे जैसे हमारी परिवहन प्रणाली में सी.एन.जी. बसों को डीजल से चलने वाली सार्वजनिक

बसों के स्थान पर प्रधानता दी गई है। इसका मतलब यह है कि हमारी परिवहन प्रणाली को भी उद्योगों के स्थान की योजना की तरह एकात्म किया गया। एक अच्छा पूँजीवादी या एक कम्युनिस्ट किसी भी समस्या को टुकड़ों में देखेगा। पूँजीवादी हमेशा शहरी केंद्रों का चयन करेगा, क्योंकि वहाँ अधिक लाभ है। कम्युनिस्ट भी शहरी केंद्रों की ओर रूख करेगा, जहाँ अधिकतम उत्पादन के साथ प्रशिक्षित औद्योगिक श्रमिक बल और बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

पूँजीवादी समाज में 'योग्यतम का अस्तित्व' का नारा है, जो सम्पूराकाताओं के बारे में चिंता नहीं करता। साम्यवादी समाज में राज्य इतना शक्तिशाली और दमनकारी है कि कोई भी उसके खिलाफ आवाज नहीं उठा सकता। लोकतांत्रिक समाजवादी समाज में जनता कुछ हद तक शोर गुल कर सकती है, जिसके कारण सरकार कुछ प्रदूषण विरोधी उपकरणों को स्थापित करे, लेकिन अंत में शहरी केंद्रों में ही निर्माण के लिए स्थान होगा। जबकि एकात्म मानववादी समाज में व्यवस्था के अनुरूप दृष्टिकोण होगा, इसलिए स्थान अनुकूलित होगा, जो शहरी आवासीय केंद्र नहीं होगा। परन्तु उद्यमकर्ता/प्रबंधक को आर्थिक नुकसान वहन करना पड़ सकता है, जो शहरी क्षेत्र का चुनाव कर अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहेगा। इसलिए संपूरकता की स्थापना के लिए प्रोत्साहन और क्षतिपूर्ति के आकलन की आवश्यकता है। अर्थशास्त्रियों को इस प्रकार की गणना की बेहतर जानकारी रहती है, लेकिन स्थानाभाव के कारण ज्यादा जानकारी नहीं दी जा रही है। सिर्फ गणना के द्वारा संपूरकताओं को जानना ही पर्याप्त नहीं है, व्यक्तिगत मूल्यों के आधार पर सामाजिक विकल्प की निरंतरता बनाने के लिए ढांचागत निर्णय लेने की आवश्यकता है। यह कहना ही काफी नहीं होगा कि लोकतंत्र में सामाजिक विकल्प बहुमत के निर्णयों के आधार पर होने चाहिए। इस बहुमत के आवश्यकताओं को प्रकाश में लाने के लिए प्रारूप की आवश्यकता है, अन्यथा परिणाम में विसंगति होगी।

उदाहरण के लिए मान लें कि हम समाज को तीन समूहों में विभाजित करते हैं- A : किसान, M : निर्माता, S : श्रमिक या अन्य सेवाकर्मी तो यह मानकर चलें कि समाज में A, M और S रहते हैं, वरीयता के क्रम में तीन परियोजनाएँ- X उर्वरक संयंत्र, Y स्टील प्लांट और Z

अस्पताल है। वरीयतानुसार किसान (A) के लिए X सबसे अधिक महत्वपूर्ण होगा, Y दूसरे स्थान पर महत्वपूर्ण होगा, और Z का महत्त्व सबसे आखिर में होगा। अगर उन्हें X या Y में चुनाव करने को कहा जाए तो वे X का चुनाव करेंगे। अगर चुनाव के विकल्प Y या Z को रखा जाये तो वे Y को चुनेंगे। स्पष्ट है, यदि X का महत्त्व Y से ज्यादा और Y का महत्त्व Z से ज्यादा होगा, तब X हर हाल में Z से अधिक पसंदीदा होगा। टिप्पणी में तीनों की प्राथमिकताओं को इस प्रकार लिख सकते हैं-

मान लें-

A : X→Y→Z

M : Y→Z→X

S : Z→X→Y

X→Y	A+S=2	M=1	X→Y	(X पहली पसंद, Y दूसरी)
Y→Z	A+M=2	S=1	Y→Z	(Y पहली पसंद, Z दूसरी)
Z→X	A=1	M+S=2	Z→X	(Z पहली पसंद, X दूसरी)

यह किसी भी प्रारूप के बिना बहुमत के फैसले में, समाज 2/3 बहुमत के साथ, X को Y से अधिक, Y को Z से अधिक, और फिर भी Z को X से अधिक पसंद करता है। ऐसी सामाजिक विसंगतियों बचने के लिए हमें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि A, M और S आपस में एक-दूसरे से सलाह करें, अपने चुनाव की समानताओं को खोजें और फिर वोट करें।

यही कारण है कि एक बुनियादी आम सहमति और सद्भाव का प्रारूप और रचना बहुत आवश्यक है। यह एक लंबी, बोझिल और जटिल प्रक्रिया है। लेकिन देश की ऊर्जा को अनुकूलित करने का यही एक मात्र रास्ता है, परन्तु इस प्रक्रिया को राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों के विकेंद्रीकरण द्वारा सरल किया जा सकता है। इसे एक केंद्रीकृत समाज में हासिल नहीं किया जा सकता।

विकास के पथ पर एक बार निर्णय लेने के बाद, दीनदयाल जी का मानना है कि बचत को बढ़ावा देने के लिए प्रोत्साहन और यथार्थवादी कराधान और संसाधन जुटाने के लिए विशिष्ट खपत कम करना ही एकमात्र व्यावहारिक रास्ता है। यह अभिधारणा 7 में निहित है। जब निर्दिष्ट संसाधन जुटाने की बात आती है तो अधिकांश विचारधाराएँ कमजोर हो जाती हैं;

क्योंकि किसी एक वर्ग को चुनने में दूसरे वर्ग के लिए कष्टप्रद होता है। इसलिए ऐसे विषय को या तो सामान्य तरीके से या परोक्ष रूप से नियंत्रित किया जाता है। हिंदू प्रथा में, आदमी को संचय के प्रति प्रोत्साहित किया जाता है, सादगी से जीना और धन-संपत्ति एकत्र करना। परन्तु उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जब अपनी संपत्ति को दान में दे या 'न्यासी' बनकर समाज के लिए प्रबंधन करे। पश्चिमी समाज में व्यक्ति के धन/संपत्ति का आकार उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्धारक है। उसे अपने धन के एक बड़े हिस्से को स्वयं पर खर्च करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। परिणामस्वरूप एक ऐसे भीषण प्रतिस्पर्धा को जन्म होता है, जिसके अनुसार कौन स्वयं पर ज्यादा खर्च कर सकता है। हर व्यक्ति अपने पड़ोसी से ज्यादा खर्च करना चाहता है, जो भारी क्षति का सूचक है। एकात्म मानववाद में चीजों की योजना में सामाजिक सांस्कृतिक प्रभावों को मानव की सोच के साथ एकीकृत किया जाता है, इसलिए अपनी संपत्ति का विनियोग स्वयं की इच्छा से समाज के लिए करता है। इस तरह की रचना में, व्यक्ति की अपनी संपत्ति में या संपत्ति बढ़ने के संकल्प में इससे कमी नहीं आती।

इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति एक ट्रस्टी के रूप में, हर व्यक्ति भौतिक पर्यावरण और प्रदूषण के प्रति सजग रहता है। वह जानवरों और वनस्पतियों से भी मानवीय व्यवहार करता है और ऐसे जानवर, वृक्ष जो मानव सभ्यता के लिए बहुआयामी संपत्ति हैं, एकात्म मानव इन पशुओं और वृक्षों को दैवीय रूप में सम्मान देता है। गाय और पीपल ऐसे ही जानवर और वृक्ष हैं।

*****

एकात्म मानववाद : राजनीतिक आयाम

डॉ0 महेश चन्द्र शर्मा[1]

दीनदयाल जी राज्य के बारे में कोई अलग व्यक्तिगत राय नहीं रखते हैं, वे भारतीय परम्परा में राज्य का उत्स खोजते हैं। उनका मानना है कि भारतीय समाज परम्परा में एक प्रकार की स्थिति ऐसी थी या कल्पना की गयी है, जब राज्य नहीं था और न राजा था, न दण्ड था, न दाण्डिक था। सब लोग परस्पर धर्म के आधार पर एक दूसरे की रक्षा करते थे ऐसा महाभारत में वर्णित है। इसका मतलब यह हुआ कि दीनदयाल जी मानते हैं कि समाज प्राथमिक संगठन है और राज्य द्वितीयक (Society is a primary organization and State is secondary) पहले समाज बना और वह समाज बिना राज्य के चलता रहा तथा समाज को चलाने वाली उस व्यवस्था को धर्म कहा गया। अतः राज्य की उत्पत्ति के पहले समाज की उत्पत्ति हुई और इसके साथ ही धर्म की उत्पत्ति हुई अर्थात् समाज का सहोदर है 'धर्म'।

अब प्रश्न उठता है कि तब राज्य क्यों आया? राज्य की क्या जरूरत थी? भारतीय परम्परा में खोज करके दीनदयाल जी कहते हैं कि एक स्थिति ऐसी आयी जब धर्म की क्षति होने लगी, जो धर्म के आधार पर परस्पर रक्षा करते थे वे अधर्म के आधार पर परस्पर लूटपाट करने लगे। समाज के भीतर के जो विकार है जैसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर

[1]**डॉ0 महेश चन्द्र शर्मा**, पूर्व सांसद एवं अध्यक्ष एकात्म मानववाद दर्शन अनुसन्धान एवं विकास प्रतिष्ठान द्वारा दिनांक 11 जनवरी 2015 को अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ, महावीर भवन, इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान।

वे धर्म की ग्लानि करने लगे। कहते हैं कि तब चिन्तित होकर ऋषि ब्रह्मा जी के पास गये और उनसे कहा कि यह कैसे चलेगा? तब ऋषि और ब्रह्मा के संवाद से राज्य की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा जी कहते हैं कि ऐसी स्थिति में राजा की आवश्यकता है। ऐसे राजा की जो राजा अधर्म करने वाले को दण्डित करेगा और धर्म करने वाले को संरक्षित करेगा। धर्म करने वाले को संरक्षण और अधर्म करने वाले को दण्ड देने की एक संस्था उत्पन्न होनी चाहिए। उस संस्था का नाम होगा राज्य, उसका नेता होगा राजा। तब मनु को कहा गया कि आप राजा बन जाइए। मनु ने कहा "मैं क्यों बनूं? मैं तो नहीं बनूंगा, क्योंकि जो राजा बनेगा वह लोगों को दण्ड देगा। दण्ड देगा तो लोगों को कष्ट होगा, ताड़ना होगी, पीड़ा होगी। किसी को कष्ट देना ताड़ना देना अधर्म है। इस पाप का मैं क्यों भागी बनूं?" तब कहते हैं ब्रह्मा जी ने कहा "नहीं ऐसा नहीं होगा, जो कुछ तुम करोगे उसका पाप तुम्हें नहीं लगेगा, क्योंकि वह तुम नहीं करोगे। तब कौन करेगा? ब्रह्मा जी ने एक दण्डनीति की पुस्तक दी और कहा कि यदि इस पुस्तक में लिखे कार्य करोगे और इससे धर्म करने वालों की रक्षा करने में जो लोगों की ताड़ना होगी उससे तुम्हें पाप नहीं होगा बल्कि उन धर्म करने वालों का एक अंश तुमको प्राप्त होता चला जायेगा। इसमें से निकलता है 'राज्य'।

दीनदयाल जी कहते हैं कि 'लोग धर्म करेंगे उसका एक अंश राजा को मिलता चला जायेगा, यह शास्त्र में तो नहीं लिखा है, लेकिन मुझको लगता है। यह दीनदयाल जी का व्यक्तिगत विचार है। दीनदयाल जी कहते हैं कि उसी प्रकार यदि समाज में अधर्म बढ़ता है तो अधर्म का भी एक अंश राजा को प्राप्त हो जायेगा। उसका अर्थ होगा कि समाज को बढ़ते अधर्म के कारण से विद्रोह करने का अधिकार होगा। इस कथा के माध्यम से राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो बातें कही गईं इसकी कुछ निष्पत्तियां दीनदयाल जी बोलते हैं। सबसे पहली निष्पत्ति है, राज्य यह समाज का एक अंश है, इकाई है, समाज से छोटा है, समाज के लिए है, समाज के बाद में उत्पन्न हुआ है। अभी दुनिया में बहुत जगह यह समस्या है कि वे सोसाइटी और स्टेट को अलग-अलग नहीं करते। वे सोसाइटी और स्टेट को एक ही मानते हैं। यहाँ तक की सोसाइटी और स्टेट को ही नहीं, नेशन और स्टेट को भी एक ही मानते हैं, बैंकों का

सरकारीकरण होगा तो बोलेंगे कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ।

दीनदयाल जी कहते हैं 'राज्य समाज की एक संस्था है और उसका काम समाज में अधर्म को नियंत्रित करना है। बुरे काम करने वालों को रोकना अच्छे काम करने वालों को प्रोत्साहित करना है।' वर्तमान संदर्भ में कहें तो कानून और व्यवस्था ही राज्य के आधारभूत कर्त्तव्य है। (Law and Order, this is the basic duty of State) राज्य, समाज में धर्म की चेतना में सहकारी होता है, नियामक नहीं होता। नीतियाँ बनाने का कार्य राज्य का नहीं है। आज भी सिद्धांत रूप में हमारे देश में यही है कि राज्य का काम कानून बनाना नहीं है। स्टेट और गवर्नमेन्ट इनका काम कानून बनाना नहीं है। कम से कम सिद्धांत में यह काम विधानसभा और लोकसभा का है। विधानसभा और लोकसभा यह राज्य नहीं हैं। विधानसभा और लोकसभा यह कानून बनाती हैं और राज्य उसको क्रियान्वित करता है। लिखित रूप में ऐसा है, भले ही व्यवहार में ऐसा नहीं है। व्यवहार में हम हर कानून की डिमांड सरकार से करते हैं और सदन में बिल रखा जाता है। कैबिनेट के बिल को संसद द्वारा पास कर दिया जाता है, इसलिए जो सिद्धांत में है वह व्यवहार में नहीं है।

दीनदयाल जी कहते हैं कि राज्य की भारतीय कल्पना में यह सिद्धान्त है कि राजा धर्म का नियामक नहीं है, धर्म का सहकारी है। धर्म के नियामक ऋषि हैं। दीनदयाल जी इस ऋषि संस्था के किसी औपचारिक गठन का उल्लेख नहीं करते। अन्ततः धर्म का नियामक कौन होगा? धर्म का नियामक कोई अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक होगा क्या? बहुमत ने कोई नियम तय कर दिया और अन्य अल्पमत में रह गये तो धर्म नहीं होगा। दीनदयालजी ने कहा धर्म स्वयंभू है। यदि सारे लोग बहुमत वाले मिलकर यह कह दें कि झूठ बोलना चाहिए, तो क्या धर्म हो जायेगा? सच बोलना धर्म है, अतः यदि सौ में से एक भी आदमी कहता है कि सच बोलना चाहिए तो वह एक आदमी धार्मिक है, निन्यानबे लोग धार्मिक नहीं हैं, इसलिए वे कहते हैं कि समाज जीवन के संचालन के लिए नियम ढूंढे गये है, खोजे गये हैं, बनाये नहीं गये हैं। अतः नियम अपने आप स्वयंभू हैं। हमारा काम उन्हें खोज लेना, जान लेना

है। जैसे, वाष्प और अग्नि की कौन-कौन सी ताकते हैं, यह खोजना हमारा काम है, यह जानना हमारा काम है। हम अग्नि पैदा नहीं कर सकते। हम हवा पैदा नहीं कर सकते। हम पृथ्वी पैदा नहीं कर सकते। हम पंच महाभूत पैदा नहीं कर सकते। इन पंच महाभूतों के जो अन्तर्निहित गुण (Inherent qualities) हैं इनके बारे में जानना और उसमें से अपना व्यवहार तय करना, इस प्रकार खोजे गये नियमों को धर्म कहते हैं।

आज की राजनीति की जो समस्या है यह केवल राजनीति ही नहीं सम्पूर्ण समाज की समस्या है। जब कोलम्बस ने पाँच सौ साल पहले यूरोप की धरती को छोड़ा और दुनिया की खोज में निकला तब भी अमेरिका तो वहीं था, जहाँ था और जहाँ पर है। अमेरिकन लोगों के लिए अमेरिका खोज का विषय नहीं था। अमेरिका यूरोपियन के लिए खोज का विषय था। यूरोपियन ने नई दुनिया की खोज की। कोलम्बस ने सुन रखा था कि दुनिया में कोई भारत नाम का देश है और वह देश सोने की चिड़िया है। उस देश में दूध, दही की नदियां बहती हैं अर्थात् वहाँ के लोग सम्पन्न हैं, अच्छा खाना खाते हैं, अच्छी सुविधाओं का उपभोग करते हैं। उसे लगा ऐसे देश में जाना चाहिए और सोने की चिड़िया हमको प्राप्त होनी चाहिए। वह भारत की खोज में निकला पर भारत तो नहीं पहुंचा, परन्तु अमेरिका पहुंच गया। इस कारण से आज भी जो पुराने अमेरिकन्स हैं, जो वहाँ के धरती पुत्र हैं उनको वे लोग इण्डियन्स कहते हैं। कोलम्बस के आने के बाद जो यूरोप के लोग आये उनकी एक पूरी परम्परा है, जिसको हम साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद के नाम से जानते हैं। उस साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद ने एशिया की जो प्राचीन परम्पराएँ हैं चाहे वह अरब की हों, चाहे वह चीन की हों, चाहे वह भारत की हों इन प्राचीन परम्पराओं को उन्होंने अपने ज्ञान से आवृत्त कर दिया।

भारत इनमें सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है। भारत की ज्ञान परम्परा विश्वमान्य थी, इसलिए भारत की ज्ञान परंपरा को तोड़ना बहुत जरूरी था, क्योंकि भारत को गुलाम बनाना था। भले ही हम आजाद भारत की संतान हों पर हम उस पीढ़ी के लोग हैं जिस पीढ़ी के लोगों ने अपनी शिक्षा-दीक्षा उसी ज्ञान

परम्परा से प्राप्त की जिस ज्ञान परम्परा का उन्होंने यहाँ पर आरोपण किया है। राष्ट्र शब्द की क्या अवधारणा है, यह शब्द किस भाषा का है, यह शब्द कब प्रचलित हुआ, इसका क्या अर्थ है, यह सब मैने नहीं पढ़ा। मैने क्या पढ़ा? मुझे पढ़ाया गया कि राष्ट्र यह कोई मौलिक संस्था नहीं है। यह तो नेशन का अनुवाद है। मैने राष्ट्र को एक मौलिक अवधारणा के रूप में नहीं नेशन के अनुवाद के रूप में पढ़ा। हम लोग पढ़ते हैं कि समाजशास्त्र यह सोशियोलॉजी का अनुवाद है, अर्थशास्त्र इकनामिक्स का अनुवाद है। हम अनुवाद पढ़ते हैं मूल नहीं पढ़ते।

मूल ज्ञान की हमारी क्या मान्यता है? जो यूरोप से आया है वही मूल ज्ञान है, इसलिए धर्म के बारे में जब आज की पीढ़ी के लोग पढ़ते-सुनते और बोलते हैं तो वे कहते हैं कि रिलीजिन यह धर्म के लिए अंग्रेजी का समानार्थी है और जो रिलीजन की पाश्चात्य परंपरा है उसी पाश्चात्य परंपरा को धर्म पर आरोपित कर देते हैं। पश्चिम में रिलीजन की जो परम्परा है वह यह है कि उस समाज के भीतर जो वैज्ञानिक लोग थे, विद्वान लोग थे, अनुसंधान करने वाले नेता लोग थे, उनके अनुसंधानों को नापा गया बाइबिल के आलेखों से और यदि बाइबिल में लिखा है तो वह ठीक है और यदि बाइबिल में नहीं लिखा है तो वह गलत है। फिर चाहे वह गैलिलियों हो चाहे वह कॉपरनिकस हो इन सब लोगों को ताड़ना सहनी पड़ी। इसलिए वहाँ पर एक समीकरण है पंथ बनाम विज्ञान (Religion v/s Science) का। भारत वर्ष में ऐसी कोई परंपरा नहीं है। यहाँ के बाणभट्ट को किसी चर्च से लड़ना नहीं पड़ा, यहाँ के सुश्रुत को किसी चर्च से लड़ना नहीं पड़ा। यहाँ के ज्योतिषाचार्य को, गणिताचार्य को किसी ऐसी संस्था से लड़ना नहीं पड़ा, जिस संस्था को रिलीजन कहते हों।

भारत में वह परम्परा है ही नहीं। रिलीजन के साथ पश्चिम में एक शासन तंत्र जुड़ा हुआ है उस शासनतंत्र का नाम है थेओक्रेसी। थेओक्रेसी का मतलब होता है कि कोई रिलीजियस थेओलाजी है और उस थेओलाजी के अंतर्गत शासन काम करेगा। यह पांथिक राज्य होता है और इसको कहते हैं थेओक्रेसी। थेओक्रेसी के खिलाफ वहाँ विद्रोह हुआ और विद्रोह में से एक विचार पनपा जिसका नाम है 'सेक्युलरिज्म'। अंग्रेजी के शब्दकोश में आप सेक्युलर शब्द का अर्थ पायेंगे मंडेन, टोम्पोरल, नॉट स्प्रिचुअल, मेटेरियलिस्टिक,

नॉट रिलिजियस। मंडेन यानी भौतिक, टेम्पोरल यानी क्षणभंगुर, नॉट स्प्रिचुअल यानी अनाध्यात्मिक, नॉट रिलीजियस यानी अनापांथिक। वह अनापांथिक है, वह अनाध्यात्मिक है, वह क्षणभंगुर है, वह लौकिक है, भौतिक है, यह अर्थ आपको डिक्शनरी में मिलेंगे। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि थेओक्रेसी में जो स्टेट था वह थेओक्रेसी भौतिकतावादी (मंडेन) नहीं थी वह तथाकथित स्प्रिचुअल थी। चर्च, स्वर्ग के टिकट बांटता था, स्वर्ग के द्वार खोलता था, पापी मानव को मुक्त करता था। चर्च का राज्य भगवान का राज्य था। यूरोप के लोगों ने कहा कि भगवान का राज्य यदि इतना भयानक होता है तब हम सब इस भगवान के खिलाफ हैं। अध्यात्म जो चर्च कहता है अगर वही होता है तो हमको अध्यात्म नहीं चाहिए। यदि चर्च का राज्य भगवान का राज्य है तो हमको इन्सान का राज्य चाहिए। इसलिए वहाँ पर परिस्थिति हुई, थेओक्रेसी वर्सेज सेक्युलरिज्म, गाडिज्म वर्सेज ह्युमेनिज्म, स्प्रिचुएलिटी वर्सेज मंडेन सोसाइटी। यह वहाँ की पूरी परंपरा है। जब इस परंपरा को भारत के धर्म शब्द पर आरोपित करके यह सब बातें भारत में लाद दी गयीं तो भारत की परंपरा के धर्म-राज्य को पुस्तकों में थेओक्रेसी कहा जाने लगा।

दीनदयाल जी कहते हैं कि भारत वर्ष की परंपरा के धर्म-राज्य का पश्चिम की थेओक्रेसी से कोई लेना-देना नहीं है। पश्चिम के रिलिजन का भारत के धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। यहाँ ये कल्पनायें मौलिक हैं, इनको मौलिक रूप से जानना चाहिए। मौलिक रूप से जान करके दुनिया को इसके बारे में बताना चाहिए, लेकिन दुनिया को तो बतायेंगे बाद में पहले खुद को जानना चाहिए। आजादी के सत्तर साल बाद भी अभी इसको हम जाने नहीं हैं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत के संविधान का आधिकारिक हिन्दी अनुवाद कराया। इस आधिकारिक अनुवाद में सेक्युलरिज्म का अनुवाद पंथनिरपेक्ष किया गया, धर्म निरपेक्ष नहीं किया गया। पर आज कोई भी युनिवर्सिटी का विद्वान इसका अनुवाद धर्मनिरपेक्ष ही करता है। रिलिजन का अनुवाद धर्म ही करता है। धर्म की बात करने वालों को कम्युनल ही कहा जाता है, इसलिए दीनदयाल जी इस बात का पुरजोर आग्रह करते हैं कि धर्म यह भारतीय प्रज्ञा से निकला हुआ एक मौलिक शब्द है। इसके

साथ न्याय होना चाहिए और न्याय होने का अर्थ है इसको ठीक प्रकार जानना चाहिए। इसको जानने का अर्थ है सबसे पहले उस पर आरोपित अर्थों को नकारना चाहिए। पश्चिम ने जो अर्थ आरोपित किये हैं उन अर्थ को नकारना चाहिए। भारत में प्रथम चरण की व्यवस्था है, वह राज्य विहीन धर्म व्यवस्था है और द्वितीय चरण में धर्म-राज्य की व्यवस्था है। धर्म की धारणा का मतलब यह है कि राज्य और राजा यह अपनी मनमानी से नियम, कानून नही बना सकता। राज्य, राजा की पर्सनल प्रापर्टी नही है, कानून राजा की सनक नहीं है। दीनदयाल जी कहते हैं धर्म-राज्य का निकटतम अंग्रेजी अनुवाद है रूल ऑफ लॉ। इसका मतलब है वह राज्य जहां पर कान्स्टीट्यूशनल लॉ है, और रूल ऑफ लॉ है, जहां व्यक्ति का नहीं विधि का शासन है।

दीनदयाल जी कहते हैं कि राज्य के बारे में विचार करते समय सम्पूर्ण समाज को राज्य मानना गलत है। राज्य समाज का प्रतिनिधित्व कर सकता है, पर सम्पूर्ण समाज को आवृत्त नहीं कर सकता। राज्य के साथ भारतवर्ष की चिति ने अनेक संस्थाओं को उत्पन्न किया है। पंचायत की संस्था राज्य निरपेक्ष है। जाति की संस्था राज्य निरपेक्ष है। उपासना पद्धति की संस्थायें राज्य निरपेक्ष हैं। भारतवर्ष में इतनी अधिक उपासना पद्धतियां क्यूं हैं? भारत वर्ष विश्व का एकमात्र देश है जहां पर सर्वाधिक उपासना पद्धतियां हैं। इतनी उपासना पद्धतियां दुनिया में कहीं नहीं हैं। ईश्वर को इतने रूपों में दुनिया में कहीं नहीं पूजा जाता। भारत की अपनी कोई थेओक्रेटिक बुक नहीं है, लेकिन भारत में अनेक पुस्तकें हैं, अनेक ऐसी किताबें हैं जो पूजा पद्धतियों का वर्णन करती हैं, ईश्वर को मानने के तौर तरीकों का वर्णन करती हैं।

ऐसी अनेकों पुस्तकें होने का कारण क्या है? इसका कारण है भारत की राज्य निरपेक्ष संस्कृति। ऐसी संस्कृति जिसमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। ऐसी संस्कृति जिसका राज्य संरक्षण करता है। यह संस्कृति क्या है, यह क्या चमत्कार है? मानव सब जगह एक सा ही होता है तो फिर ऐसे क्या कारण हैं कि संसार के अन्य किसी हिस्से में इतने सम्प्रदाय नही पैदा हुए जितने भारत में पैदा हुए? ऐसा क्या कारण है कि जिहाद और क्रुशेड का इतिहास जैसा अन्य देशों है वैसा भारत का नहीं है। भारत में कभी कोई तनाव

हुए जैसे शाक्तों व वैष्णवों में हुऐ, सनातनी व जैनियों में हुए, सनातनी व आर्यसमाजियों में हुए तो वे वैचारिक होते थे पर जो क्रुशेड और जिहाद की हिस्ट्री है वैसी कोई हिस्ट्री भारत की नहीं है। क्यों नही है? दीनदयाल जी कहते हैं कि भारतीय संस्कृति का बीज-मंत्र है, "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" है अर्थात् सत्य तो एक है परन्तु विद्वान् लोग उसको अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

यह छोटी सी बात है पर इस छोटी सी बात में कितना बड़ा मंत्र है कि सत्य एक है विद्वान् लोग उसको अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। इसका मतलब है कोई भी प्रकार गलत नहीं है, सभी प्रकार सही हैं। कोई कहेगा ऐसा कैसे हो सकता है? सत्य तो एक ही है, परन्तु परमात्मा ने किसी एक व्यक्ति को इतनी प्रज्ञा नहीं दी है कि वह समग्र सत्य को अकेला जान सके। सत्य को जानने के लिए उसे सहकारी चाहिए। सत्य को अकेला नहीं जान सकता। जैसे, अभी मैं आपको देख रहा हूँ कि आपका चेहरा गोल है, आप की आंखें हैं, आपकी नाक है, आपका मुँह है, पर कोई आपको पीछे से देख रहा है तो वह कहेगा ऐसा बिल्कुल नहीं है एकदम झूठ है, न आंख है, न नाक है, कुछ नहीं है। मैं जो बोल रहा हूँ उससे भिन्न वह बोल रहा है, लेकिन क्या वह गलत बोल रहा है? जो कुछ वह बोल रहा है उससे भिन्न मैं बोल रहा हूँ तो क्या मैं गलत बोल रहा हूँ? इसलिए हमारे यहाँ यह माना ही नहीं गया कि कोई ऋषि कोई विद्वान झूठ बोलेगा, परन्तु यह माना गया कि सत्य के जिस अंश को तुम देखते हो मैं उसे नहीं देख पा रहा हूँ और निश्चय ही सत्य के जिस अंश को मैं देख रहा हूँ उसको तुम नहीं देख पा रहे हो।

'वादे वादे जायते तत्वबोधः' तत्व का बोध प्राप्त करने के लिए विमर्श कीजिए डिबेट नहीं। विमर्श का विकार है डिबेट, जो आज के पाश्चात्य लोकतंत्र का हिस्सा बना हुआ है। विमर्श का मतलब होता है तुम सच बोलते हो, मैं सच बोलता हूँ, पर हमारा विभेद कहाँ है, मिलते क्यों नहीं? हम आपस में मिलेंगे तो उसे कहते हैं सहमति विकसित होना। डिबेट में क्या होता है? डिबेट में यह है कि मेरा स्टेण्ड प्वाइन्ट यह है और तेरा स्टैण्ड प्वाइन्ट वह है और न मैं तेरी मानूंगा न तू मेरी मानेगा इसका नाम है 'डिबेट'। डिबेट समाज जीवन का नियामक नहीं हो सकता, यह विकार है। भारत के ऋषि कहते हैं -

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

विद्या प्राप्त करके जो विवाद करता है, धन प्राप्त करके जो अहंकार करता है और शक्ति प्राप्त करके जो किसी का उत्पीड़न करता है, ऋषि कहते हैं यह खलों के काम हैं, दुष्टों के काम हैं। इसका मतलब हुआ दुष्ट विद्वान् हो सकता है, दुष्ट धनवान हो सकता है, दुष्ट पहलवान हो सकता है, पर पहलवान दुष्ट प्रताड़ित करता है, धनवान दुष्ट धरती खरीदने की बात करता है और दुष्ट विद्वान् लोगों को हराने की बात करता है, विवाद करता है। ऋषि कहते हैं 'विद्या ज्ञानाय', विद्या से अज्ञान अंधकार को समाप्त कर देने का कार्य होना चाहिए, यह किसी को हराना नहीं उल्टा जिता देना है। जब कोई मेरा अज्ञान हरता है तो क्या मुझे हराता है? हराता नहीं है मुझे जिताता है। 'धनम् दानाय' जो धन प्राप्त हुआ है उसके पीछे मैं ट्रस्टी हूँ, वह समाज से प्राप्त हुआ है समाज को दे देने का भाव होना चाहिए। शक्तिम् परेषां रक्षणाय और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होनी चाहिए।

दीनदयाल जी कहते हैं कि भारतीय संस्कृति के कारण यह देश मजहबी राज्यों से मुक्त रहा है। भारत की संस्कृति के कारण यह देश धन की प्रभुता से मुक्त रहा है। भारत की संस्कृति के कारण ही यह देश किसी भी प्रकार की ऐसी बात जिस बात से मानवता का स्खलन होता हो उससे मुक्त रहा है, इसलिए वे कहते हैं कि भारत की पहचान भारत की संस्कृति में है।

पश्चिम में एक विशेष परिस्थिति थी। उस परिस्थिति के कारण दो संस्थाओं का जन्म हुआ उसमें एक संस्था का नाम है नेशन और दूसरी का नाम है इलेक्शन अर्थात् राष्ट्र और चुनाव। पश्चिम में राष्ट्र संस्था की उत्पत्ति का अपना इतिहास है। जब पश्चिम में थेओक्रेसी समाप्त हो गयी और औद्योगिक क्रान्ति हुई तब औद्योगिक क्रान्ति के बाद में एक नव धनाढ्य वर्ग पैदा हुआ। उस वर्ग ने सोचा कि यह राजा कौन होता है, इसको हम टैक्स क्यों दें? हम पैदा करते हैं, हम मालिक हैं। राजा कौन होता है टैक्स लेने वाला? वेस्टर्न डेमोक्रेसी जिस एक सस्ते स्लोगन से पैदा हुई है वह स्लोगन है 'प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं' (No taxation without

representation)। प्रतिनिधित्व कैसे होगा? तब यह निश्चित हुआ कि प्रतिनिधित्व के लिए इलेक्शन होगा। उस इलेक्शन के परिणामस्वरूप सामंतशाही भी जायेगी, पंथशाही भी जायेगा और लोकशाही आयेगी। यह लोकतंत्र के प्रणयन की मुख्य पॉलिसी थी। उसमें जो बाकी बाते हैं स्वातन्त्रता है, अभिव्यक्ति की आजादी है, वगैर-वगैरह यह सब बाद में आयी। थेओक्रेसी भी नहीं रही, सामंतशाही भी नहीं रही, तब प्रश्न उठा कि टेरेटरी का नियामक कौन? राजा और चर्च ये दोनों जो टेरेटरी के नियामक थे इन दोनों को खत्म कर दिया अब टेरेटरी का नियामक कौन? उन्होंने कहा हमारा राज्य न तो पंथ राज्य है, न तो सामंती राज्य है, यह राष्ट्र राज्य है। अब प्रश्न उठा कि टेरेटरी में राष्ट्र कैसे तय करेंगे? तब उन्होंने कहा इस टेरेटरी में जो स्टेट है यानी एक टेरेटरी के भीतर की सम्प्रभुता सम्पन्न स्टेट जो की चुनी हुई है वह राष्ट्र का नियमन करेगी। अतः राष्ट्रवाद पर पश्चिम में बहुत बहस हुई। वास्तव में राष्ट्रीयता की धारणा भू-संस्कृतिक (Geo-Cultural) है, लेकिन पश्चिम के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसे राजनीति-क्षेत्रीय (Politico-Territorial) बना दिया गया।

आज स्थिति यह है कि जिसको राष्ट्र कहा जाता है उस राष्ट्र की कोई परिभाषा नहीं है, उस राष्ट्र का कोई आधार नहीं है। आज राष्ट्र का आधार, राष्ट्र की परिभाषा यह है कि यू.एन.ओ. नाम की संस्था जिस किसी स्टेट को मान्यता प्रदान कर दे वही राष्ट्र कहलाने लगती है। अरब जगत की एक-एक रियासतें राष्ट्र कहलाती हैं। यू.एन.ओ. के पास कोई परिभाषा है क्या राष्ट्र की? कोई परिभाषा नहीं है। यूगोस्लाविया एक नेशन-स्टेट था। वहाँ का जो प्रधान था वह यू.एन.ओ. में चिल्लाता रहा और यू.एन.ओ. ने वहाँ आठ नेशन स्टेट को परमिट कर दिया। सोवियत संघ का एक नेशन-स्टेट था। ऐसा कोई दशक नहीं है जब नेशन-स्टेट की संख्या घट-बढ़ न रही हो। दीनदयाल जी कहते है यह गलत है, यह अप्राकृतिक है। राष्ट्र की कल्पना राजनैतिक है ही नहीं, राष्ट्र की कल्पना सांस्कृतिक है। संस्कृति राष्ट्रों का नियमन करती है। दीनदयाल जी कहते हैं "संस्कृति राष्ट्रों का जब नियमन करती है तो संस्कृति और भूमि का जुड़ाव होता है और जहां जन और संस्कृति में संघात होता है तब वहां राष्ट्र की उत्पत्ति हो जाती

है।'' राष्ट्र बनते नहीं, राष्ट्र बनाये नहीं जाते, राष्ट्र उत्पन्न होते हैं। भारत का राष्ट्रवाद कब उत्पन्न हुआ? जब भारत के किसी ऋषि ने यह बोध प्राप्त किया कि हम कौन हैं तब उत्तर आया 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः' यह धरती हमारी माता है हम पृथ्वी के पुत्र हैं। माता मतलब क्या होता है? माता का मतलब संस्कृति, धरती की ओर देखने की दृष्टि, प्रकृति की ओर देखने की दृष्टि है। यदि माता शब्द हटा दें तो भारत केवल भूगोल रह जायेगा, भारत राष्ट्र नहीं रह जायेगा। दीनदयाल जी कहते हैं कि माता शब्द ही है जो हम को राष्ट्र बनाता है और यह बात वेद ने कही 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः'।

बाद में ध्यान आया कि धरती तो बहुत व्यापक है, किस विशेष धरती की बात करते हो? विष्णु पुराण में कहा गया 'उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं। वर्षं तद् भारतम् नाम भारती यत्र संतति।।' जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है वह भूमि भारतवर्ष नाम की है। भारतीय लोग यहां की संतति यानी संताने हैं। संतान किसकी होती है? संतान माता की होती है। अतः उस वैदिक बात का विस्तार हुआ 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः' और इसी का विस्तार आजादी के आन्दोलन में हुआ। आजादी के आन्दोलन के दो नारे हैं, एक है 'वंदेमातरम्' दूसरा है 'भारत माता की जय'। वंदेमातरम् और भारत माता की जय यह 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः' का सातत्य है।

दीनदयाल जी राष्ट्रधारा के पुण्य प्रवाह का वर्णन करते हैं और वैदिक काल से लेकर के वंदेमातरम् और भारत माता की जय तक उसका विस्तृत व्याख्यान करते हैं। उन्होंने कहा कि आज जो राष्ट्रवाद मानवता पर आरोपित है वह है राजनीतिक-क्षेत्रीय राष्ट्रवाद (Politico-Territorial Nationalism) हम भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (Geo-cultural Nationalism) चाहते हैं। इसका अर्थ हुआ राष्ट्र के नाम पर राजनैतिक और मजहबी पृथकतावादों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। राष्ट्र की एकात्मता को पहचानना चाहिए। भारत एक राष्ट्र है और इसलिए जनसंघ के एक नेता के नाते उनकी पहली लड़ाई राष्ट्रवाद को लेकर हुई। जनसंघ में जाने के बाद उनकी पहली पुस्तक आई 'अखण्ड भारत क्यों?'। उन्होंने कहा यह पृथकतावाद कृत्रिम है।

राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में बहुत ही विसंगति दिखाई पड़ती है। कोई व्यक्ति

जब पैदा हुआ तो उसकी राष्ट्रीयता भारतीय थी, थोड़ा सा जवान हुआ तो राष्ट्रीयता पाकिस्तानी हो गई, थोड़ा सा प्रौढ़ हुआ तो राष्ट्रीयता बांग्लादेशी हो गई। एक ही जीवन में तीन-तीन राष्ट्रीयता भोग सकता है। व्यक्ति वही है, उसका शरीर वही है, उसकी भाषा वही है, उसका खानपान वही है, उसकी बोल-चाल वही है, उसके पूर्वज वही हैं, उसकी घर गृहस्थी वही है और आप केवल उसके साईन बोर्ड बदलते रहते हो। कभी साईन बोर्ड से भारतीय हो गया, कभी साईन बोर्ड से पाकिस्तानी हो गया, कभी साइन बोर्ड से बांग्लादेशी हो गया। क्या यह प्राकृतिक है, क्या यह स्वाभाविक है और क्या यह ठीक है? दीनदयाल जी कहते हैं यह राजनीतिक-राष्ट्रवाद (Politico-Nationalism) मानवता के विखण्डन का कारक है। एशिया में पश्चिम की पॉलिसी ने जो किया आज इसी का परिणाम है कि विशेष कर जो नेशन-स्टेट्स हैं उनकी सीमायें आर्मी से घिरी हुई हैं। यूरोपियन्स के आने के पहले सेनायें नहीं थीं। यूरोपियन्स के आने के बाद ये सेनायें आयीं, क्योंकि यूरोपियन्स कालोनीज की होड़ में आपस में लड़ते थे। यूरोपियन्स ने अफ्रीका और एशिया मे कालोनीज कब्जाने के लिए कैसे लड़ाई की आपस में और फिर कैसे चर्च ने हस्तक्षेप किया और उसके कारण से सेनायें आयीं यह पूरी अलग कहानी है। अपनी-अपनी कालोनीज की रक्षा के लिए उन्होंने सेनायें खड़ी कीं। अब ऐतिहासिक दौर ऐसा आया कि वे चले गये और जाने के पहले उन्होंने राजनीतिक-क्षेत्रीय राष्ट्रवाद (Politico-Territorial Nationalism) के आधार पर दुनियां में दो बड़े महायुद्ध किये। मानवता रक्त से रंजित कर वे चले गये और सेनायें छोड़ गये।

दो महायुद्धों से उन्होंने जो कुछ सीखा उसका परिणाम है कि आज यूरोपीय नेशन-स्टेट की सीमाएं सैन्य मुक्त हैं। यूरोप के जो नेशन-स्टेट हैं फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगीज और डच इनकी सीमाओं पर सेनायें नहीं हैं। अमेरिका और कनाडा इनकी सीमाओं पर सेनायें नहीं हैं। यूरो-अमेरिकन वर्ल्ड के राष्ट्र राज्य सैन्य मुक्त हैं तो भारत की सीमाओं पर ये सेनायें क्यों खड़ी हैं? किस लिए खड़ी हैं? द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरो-अमेरिकन वर्ल्ड में युगोस्लाविया के अतिरिक्त एक भी बड़ा युद्ध नहीं हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद समाजवाद, कम्युनिस्टवाद सारे युद्ध एशिया में हो रहे हैं, चाहे

वह चीन-जापान का हो, चाहे चीन-कोरिया को हो, चाहे वियतनाम का हो, चाहे चीन-भारत का हो, चाहे भारत-पाकिस्तान का हो, चाहे ईरान-इराक का हो, चाहे फिलिस्तिन-इजराइल का हो। इन सारे युद्धों की भूमि एशिया और सारे शस्त्रों की दुकान यूरो-अमेरिका में है। ये पॉलिटिको-टेरिटोरियल नेशनलिज्म साम्राज्यवादियों के शस्त्रों की दुकान है यह समाप्त होनी चाहिए।

दीनदयाल जी कहते हैं 'आप भारत के पुराने नक्शे देखे होंगे उसमें उसकी उत्तरी सीमा का अंकन नहीं होता है, केवल नाम लिखा होता है। हिमालय, अमरनाथ, हिन्दुकुश पर्वत, नाम लिखा होता है, सीमा नहीं होती।' ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि संस्कृति की सीमायें स्पष्ट नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि एक इंच इधर तो संस्कृति है और एक इंच उधर संस्कृति वाह्य है, इसलिए जहाँ दो संस्कृतियाँ मिलती हैं वहाँ पर जैसे पानी में दो रंग मिलते हैं तो तीसरा पैदा हो जाता है उसी प्रकार जहाँ चीन और भारत की राष्ट्रीयतायें मिलती हैं वहाँ हिन्द-चीन पैदा होता है। जहाँ अरब और भारत की राष्ट्रीयतायें मिलती हैं वहां ईरान पैदा होता है। इसलिए दीनदयाल जी कहते हैं कि विश्व का एक सर्वे होना चाहिए और भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को पहचानना चाहिए। न केवल भारत अखण्ड होना चाहिए बल्कि अखण्ड अफ्रीका भी होना चाहिए, अखण्ड यूरोप भी होना चाहिए। विश्व की मानवतायें नेशन-स्टेट की सीमाओं ने जिस प्रकार बांट दी हैं उससे पूरी मानवता आजाद होनी चाहिए। इसकी शुरुआत भारत से होनी चाहिए और इसलिए उन्होंने कहा कि अखण्ड भारत यह हमारी राष्ट्रीयता का मंत्र है और उन्होंने नारा लगाया 'कौन करेगा देश अखण्ड, भारतीय जनसंघ'।

जनसंघ ने जो पहला आन्दोलन किया वह आन्दोलन इसलिए नहीं था कि जनसंघ को वोट मिलेंगे। कश्मीर विभाजन की विभीषिका का शिकार हो रहा था, जो आज भी है, उस कश्मीर को बचाने के लिए सबसे पहला आन्दोलन हुआ। डॉ0 मुखर्जी वहाँ गये और नारा दिया 'एक देश में दो निशान, एक देश में दो प्रधान, एक देश में दो विधान नहीं रहेंगे'। फिर दूसरा आन्दोलन बेरुबारी के लिए हुआ, तीसरा आन्दोलन गोवा के लिए हुआ, चौथा आन्दोलन कच्छ के रण के लिए हुआ। यह आन्दोलन जनसंघ के अलावा किसी ने नहीं किया।

कोई पॉलिटिकल पार्टी उसे छूती भी नहीं। क्यों नहीं छूती? क्योंकि उनकी राष्ट्र के बारे में धारणा बड़ी विचित्र है। जब गोवा की आजादी की बात चली तो जवाहरलाल जी प्रधानमन्त्री थे। उन्होंने कहा कि गोवा की आजादी की बात हम नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे? उन्होंने कहा हमको जो नेशन-स्टेट प्राप्त हुआ है वह ब्रिटिश-इण्डिया का है और जो ब्रिटिश-इण्डिया का हिस्सा है वह तो इण्डिया है, जो ब्रिटिश-इण्डिया का हिस्सा नहीं है वह इण्डिया नहीं है और गोवा ब्रिटिश-इण्डिया नहीं है, पुर्तगीज का राज्य है। यह कैसी सोच है? भारत की राष्ट्रीयता का नियमन क्या ब्रिटिश सीमायें करेंगी? वहाँ पर जनसंघ ने आन्दोलन किया। पन्नालाल, राजाबाबू वहां पर बलिदान हुए, रानाडे ने जेल भोगी और सम्पूर्ण देश में सत्याग्रह हुआ।

राष्ट्र की अखण्डता की राजनीति करने वाला एकमात्र महापुरुष है पं. दीनदयाल उपाध्याय। जब देश का संविधान बन रहा था उस समय कुछ बातें दीनदयाल जी ने कहीं, उनको मैं आपको संक्षेप में बताता हूँ। उन्होनें कहा 'हमें आने वाली पीढ़ियों को किसी जटिल संविधान के बन्धन से नहीं बांध देना चाहिए। हमें संविधान का क्रमशः विकास करना चाहिए। सबसे बड़ी त्रासदी यह हुई कि 1935 के भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act 1935) को ही लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। जिस 1935 के एक्ट को सारी कांग्रेस ने नकार दिया था उस एक्ट को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उसमें उन्होंने जो मौलिक भूलें बतायीं, उसमें सबसे बड़ी भूल थी संघात्मक संविधान का निर्माण। उन्होंने कहा भारत एक देश है तो भारत का राज्य भी एक होना चाहिए। क्या ऐसा तथ्य है कि भारत वर्ष में अनेक राज्य हैं उन राज्यों ने मिलकर संघ बनाया? दीनदयाल जी ने कहा जो तथ्य नहीं है उसको तथ्य के रूप में क्यों निर्मित कर रहे हो। भारत एक राज्य है, भारत को एकात्म राज्य होना चाहिए। भारत राज्यों का संघ नहीं है।

वे अपने आलेखों में संघात्मकता के कारण को स्पष्ट करते हैं। यह संघात्मकता भारत में आयी कहां से? 1935 के एक्ट में पहली बार इनको स्टेट कहा गया, इसके पहले वे प्रोविन्स थीं। यह प्रोविन्स बनी कैसे? जैसे-जैसे अंग्रेज भारत जीतते गये वैसे-वैसे नई प्रोविन्स बनती चली गई। इन प्रोविन्सों के बनने

का कोई लॉजिकल कारण नहीं है। अंग्रेजों की जो औपनिवेशिक विजय थी उन औपनिवेशिक विजय से वे प्रांत बने उन प्रान्तों और राज्यों के निर्माण से देश में हिंसा हुई।

स्वतंत्रता के बाद सबसे पहला राज्य आंध्र प्रदेश बना और रामालू की अनशन के कारण से मृत्यु हुई। महाराष्ट्र के लिए झगड़े हुए, पंजाब के लिए झगड़े हुए। दीनदयाल जी ने कहा ये झगड़े हम देश में क्यों पैदा कर रहे हैं, पृथकतावाद क्यों पैदा कर रहे हैं? भारत एक देश है यहाँ अलग से भाषावार राज्य बनाने की क्या जरूरत है? दीनदयाल जी कहते हैं यह साम्राज्यवाद और पृथकतावाद के मेल से निकला हुआ विचार है, जिसे भारत के संविधान में स्वीकार किया गया। यह भारत के संविधान की मौलिक भूल है, जो हमें बहुत परेशान करेगी।

संविधान के बारे में यह सभी मानते हैं कि यह संविधान यूरोप के संविधानों की नकल है। दीनदयाल जी कहते है कि हमें भारत के मौलिक संविधान का विकास करना चाहिए। हमें संविधान आरोपित नहीं करना चाहिए। पर अब संविधान बना गया तो क्या करें, इसका विरोध करें? दीनदयाल जी ने कहा इसके विरोध की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस संविधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह भारत के लोगों ने बनाया और स्वीकारा। 1935 का एक्ट जब तक अंग्रेज के हाथ में था तब तक भारत के लोगों ने इसको नकारा और 1935 का एक्ट जब संविधान में आया तो भारत के लोगों ने इसको स्वीकारा। भारत के लोगों ने स्वीकारा इसलिए इसका बहिष्कार नहीं होना चाहिए। इस संविधान की सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि यह संविधान परिवर्तन को नकारता नहीं। अब तक इसमें सैकड़ों संशोधन हो चुके हैं। इसलिए वे कहते हैं "बहिष्कार नहीं परिष्कार के लिए स्वायत्तता चाहिए।"

इसके लिए उनका कहना है कि लोकतंत्र का भारतीयकरण करना चाहिए। लोकतंत्र का भारतीयकरण कैसे करें? उन्होंने कहा कि इसका भारतीयकरण करने का तरीका है 'लोकमत परिष्कार'। लोगों के मत को परिष्कृत करना चाहिए। लोगों के मत को परिष्कृत करके इस संविधान को धीरे-धीरे बदलना चाहिए। पश्चिम का लोकतंत्र 'वादे-वादे जायते तत्वबोधः' का नहीं

है यह 'वादे-वादे जायते कण्ठशोषः' का है। लोकतंत्र का विकास करना चाहिए। हम कुछ ऐसी पद्धति लायें जो विवाद की नहीं, जो अल्पमत-बहुमत की नहीं, जो आम सहमति की हो, जो समाज की सामान्य इच्छा को प्रत्यक्ष कर सके। हम ऐसी पद्धति लायें जिसमें कम से कम यह लोकतंत्र बहुमत का तो नियामक हो।

सत्तर साल पूर्व दीनदयाल जी ने जो बातें कहीं वह लोगों को समझ में नही आयी, लेकिन आज समझ में आती है। जब 1952 का इलेक्शन हुआ तो उन्होंने कांग्रेस से कहा यह मत मानिये कि भारत की जनता आपके साथ है। आपको कोई हक नहीं है कि आप अपनी नीतियां भारत पर आरोपित करें, क्योंकि आपको कुल मतदाता का केवल पच्चीस प्रतिशत मत मिला है। चाहे जवाहरलाल जी की सरकार हो, चाहे श्रीमती गांधी की सरकार हो, चाहे अटल बिहारी बाजपेई जी की सरकार हो, चाहे नरेन्द्र मोदी जी की सरकार हो, किसी को भी 51 प्रतिशत का मैनडेट नहीं है। दीनदयाल जी ने कहा कि हमारी चुनाव पद्धति में परिवर्तन होना चाहिए, अनुसंधान होना चाहिए और उसे कम से कम बहुमत का तो प्रतिनिधित्व होना चाहिए। वैसे ही जो हमारी कानून बनाने की प्रक्रिया है उस कानून बनाने की प्रक्रिया को भी ठीक करना चाहिए।

दीनदयाल जी ने कहा कि यह लोकतंत्र है इसमें जैसा लोक होगा तंत्र वैसा ही होगा। इसलिए उन्होंने कहा कि पॉलिटिकल पार्टियों, नेताओं और सांसदों वगैरह में कमी निकालने की जरूरत नहीं है। क्यों जरूरत नहीं है? दीनदयाल जी ने कहा सिद्धांतहीन मतदान, सिद्धांतहीन राजनीति का जनक है। उन्होंने कहा यह संभव ही नहीं है कि वोट सिद्धांतहीन होगा और सिद्धांतहीन वोट में से उत्पन्न होने वाली राजनीति सिद्धांतवादी होगी। व्यक्तिगत लोग सिद्धांतवादी होंगे पर राजनीति यह सिद्धांतवादी नहीं होगी। इसलिए उन्होंने कहा कि कम से कम एक पीढ़ी को यह काम करना चाहिए कि वह लोकमत परिष्कार करे।

दीनदयाल उपाध्याय एक ऐसी पार्टी के नेता थे जिसने भारत के राजकोष में सर्वाधिक जमानतें जमा करायी। जितनी जमानत जब्त जनसंघ की हुई थी पूरी दुनियां में किसी पार्टी की नहीं हुई। जब 1957 के चुनाव हो रहे थे तब जनसंघ के लोगों ने कहा पण्डित जी हम सारे देश में हारते हैं। आप क्यों सारे देश में चुनाव लड़वाते हैं? क्यों न दस-बीस जगह ऐसा जोर लगायें जहां से जीत कर संसद में जायें?

दीनदयाल जी ने कहा हम चुनाव जीतने के लिए चुनाव नहीं लड़ते। चुनाव शासन तंत्र में जन सहभागिता का नियामक है, जिन्हें जन सहभागी होना है उनके सामने हम अपना आदर्श अपना नेतृत्व और अपनी विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। हमें वोट कौन देता है, कितना देता है यह द्वितीयक चीज है। वे कहते हैं 'मतदान लोक शिक्षा का बड़ा माध्यम है', वहां जनसंघ के हर कार्यकर्ता को उपस्थित रहना पड़ेगा और इसलिए सारे देश में जमानत जब्त करवाते हुए भी वे चुनाव लड़ते थे, फिर भी लोग आश्चर्य करते थे कि जनसंघ पार्टी बढ़ कैसे रही है।

1952 से 67 तक के चुनाव में जनसंघ ने एक कदम पीछे नहीं रखा, हमेशा आगे बढ़ा। लोग भविष्यवाणी करते थे कि इस चुनाव में पार्टी खत्म हो जाएगी, लेकिन दीनदयाल जी के जीवन में जनसंघ हमेशा आगे बढ़ा। सबसे पहले दीनदयाल जी की अनुपस्थिति में पहला चुनाव हुआ 1971 में और उसमें वह पीछे आया। लोकतंत्र के परिष्कार के लिए दीनदयाल जी ने अनेक काम किये। राजनीति के विभिन्न आयामों के बारे में जो मैने अभी चर्चा की वे सभी आयाम एक प्रकार से भौतिक हैं। राजनीति का आध्यात्म एक प्रकार से विचारधारा में है। विचार शून्य राजतंत्र शैतानी होता है, विचारहीन राजतंत्र राजभोगी होता है, विचार शून्य राजतंत्र लोलुप होता है। विचार तंत्र से मंडित निष्ठावान लोगों का तंत्र हमेशा अच्छा होता है।

दीनदयाल जी ने कहा कि आज हमारे देश की यह विडम्बना है कि विचारधारा के नाते पुनः हम पश्चिम पर अवलम्बित हैं। हमारे यहां बहस हो रही है कि हम व्यक्तिवादी हों या समाजवादी हों। दीनदयाल जी ने कहा कि भारत विश्व की महान संस्कृति है, विद्वानों का देश है, क्या यहां कोई विचार नहीं है, क्या यहां कोई विचार की परम्परा नहीं है? व्यक्तिवाद और समाजवाद की इस 350 साल की यूरोपियन परिस्थिति में उत्पन्न बहस में एक भी भारतीय शामिल नहीं है। ऐसी यूरोपियन विचारधारा का अनुयायी बनने की हमारी क्या मजबूरी है? एक ही मजबूरी थी कि आजादी के बाद जिनके हाथ सत्ता आयी वे पश्चिमी ज्ञानशास्त्र में दीक्षित लोग थे, विदेशों में पढ़कर आये थे। गांधी जी अवश्य भारतीय परंपरा के थे पर उनको नकार दिया गया। लोगों ने कहा कि व्यक्तिवाद भी नहीं, समाजवाद भी नहीं, लेकिन कोई तो वाद होना चाहिए।

दीनदयाल जी ने भारतीय परम्परा को एकात्म मानववाद इस नाम से व्याख्यायित किया। एकात्म मानववाद का अर्थ है कि राज्य मानव को चाहिए, इसलिए मानव कौन है, उसे पहचानो। मानव को पहचानने के क्रम में पश्चिम के एक प्रकार के विद्वानों ने कहा कि मानव एक व्यक्ति है। इसके बुरे परिणाम आये तब दूसरे प्रकार के लोगों ने कहा कि नहीं गलती हो गई, मानव व्यक्ति नहीं समाज है। व्यक्तिवादी और समाजवादियों में लड़ाई हो गई। जो व्यक्तिवादी हैं वे समाजवादियों को नहीं मानते, जो समाजवादी हैं व्यक्तिवादियों को नहीं मानते। व्यक्ति बनाम समाज का जो यह वाद पश्चिम से आया है इसे हम क्यों स्वीकार करें? हम तो व्यक्ति बनाम समाज की अवधारणा को मानते ही नहीं। हम मानते हैं कि व्यक्ति और समाज एकात्म है, व्यष्टि और समष्टि एकात्म है। यदि समाज से व्यक्ति निकाल दो तो समाज बनेगा ही नहीं और व्यक्ति से समाज निकाल दो तो पशु हो जायेगा।

व्यक्ति का अर्थ है व्यक्त करने वाला। मैं क्या व्यक्त करता हूँ? मैं शरीर व्यक्त करता हूं, मैं भाषा व्यक्त करता हूँ, मैं भूषा व्यक्त करता हूँ, मैं विचार व्यक्त करता हूँ, अतः मैं व्यक्ति हूं। मैं ने यह भाषा-भूषा, रस-गंध, विचार समाज से पाये। मैं अपने समाज को व्यक्त करता हूँ। मैं यानी कोई भी व्यक्ति अपने समाज को व्यक्त करता है। व्यक्ति में से समाज निकाल दो तो पशु बचेगा और समाज में से व्यक्ति निकाल दो तो शून्य बचेगा। अतः व्यक्ति बनाम समाज का सिद्धांत सर्वथा गलत है। एकात्म का मतलब है जो बटने लायक नहीं है, जो अलग नहीं किये जा सकता, व्यष्टि और समष्टि को बाटा नहीं जा सकता। इसलिए उन्होंने कहा नीतियां बनाने वालों सुनो तुमको व्यक्ति के लिए कानून नहीं बनाने हैं, तुमको समाज के लिए भी कानून नहीं बनाने हैं, तुमको व्यक्ति और समाज जहां एकात्म हो जायें उसके लिए कानून बनाने हैं, उसके लिए नीतियां बनानी हैं।'

दीनदयाल जी ने कहा व्यक्ति और समाज का जो संदर्भ पश्चिम की बहस का है इसको आगे बढ़ाना चाहिए। उन्होंने कहा व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि इन चारों की एकात्मता का नाम है 'मानव'। मानव में से परमेष्टि को निकाल दो, मानव मे से समष्टि को निकाल दो, मानव में से व्यष्टि को निकाल

दो, तो मानव विकलांग हो जायेगा, इसलिए जो नीतियां बननी हैं, जो कानून बनना है, वह सब इस एकात्म मानव के लिए बनना है। इस एकात्म मानव को पहचानो और इस एकात्म मानव की शिक्षा कैसी हो, इस एकात्म मानव की अर्थव्यवस्था कैसी हो, इस एकात्म मानव की समाज व्यवस्था कैसी हो, इस एकात्म मानव की न्याय व्यवस्था कैसी हो, इस एकात्म मानववाद की सब व्यवस्थायें कैसी हों इसका विचार करो, अनुसंधान करो।

*****

एकात्म मानववाद : आर्थिक आयाम

डॉ. बजरंग लाल गुप्त[1]

दीनदयाल जी और उनके विचार को समझने के पूर्व यह बात समझनी आवश्यक है कि उनका विचार सरल है पर समझना कठिन है। कठिन विचार को समझना आसान होता है, सरल विचार को समझना कठिन होता है। दीनदयाल जी के विचार के साथ में भी यही बात है। दीनदयाल जी के एकात्म मानवदर्शन को समझने के लिए भारतीय मन और मानस चाहिए। मुझे भी समझाने में कठिनाई होती है। अभी भी पूरा समझ में आया है ऐसा मैं नहीं कह सकता। जिन्होंने दीनदयाल जी को योग्य प्रकार से समझा है उन विद्वान व्यक्ति के पास मैं गया और पूछा कि बार-बार पढ़ने के बाद भी मुझे दीनदयाल समझ में क्यों नहीं आते? तब उन्होंने कहा कि तुम्हारा मन और मानस भारतीय हैं क्या? विचार में कहीं गड़बड़ है, घोटाला है, कहीं मिलावट है। हमारा मन और मानस पिछले कालखण्ड में दूषित हो गया है, मिलावट हो गया है। हमारा पूर्णतौर से भारतीय मन और मानस नहीं रहा, इसलिए दीनदयाल जी को जब कभी भी हम समझने का प्रयत्न करें, उसके पूर्व प्रयत्न पूर्वक अपने को, अपने मनःस्थिति को, अपने मानस को भारतीय बनाने का एक अतिरिक्त प्रयास करना चाहिए।

एक दूसरी बात यह है कि हम सब पढ़े-लिखे लोग पाश्चात्य शब्दावली (Western Terminology) के अभ्यस्त हो गये हैं। हम किसी

[1] प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं पूर्व अध्यापक - दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा दिनांक 11 अप्रैल 2015 को अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर भवन इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान।

भी विषय का विवेचन पाश्चात्य पारिभाषिक शब्दावली में करते हैं। क्या केवल यही शब्दावली है या कोई और शब्दावली उपयुक्त और ग्राह्य है? उसका मापदण्ड क्या है, कसौटी क्या है? उसका विश्लेषण और विवेचन कैसे करते हैं? पाश्चात्य शब्दावली के स्थान पर दीनदयाल जी ने आग्रह पूर्वक अपनी परम्परा में उपलब्ध भारतीय शब्दावली का ही प्रयोग किया है। दुर्भाग्य से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमने भारतीय शब्दावली को दकियानूसी करार दे दिया। आज प्रगतिशील होने का मतलब, या अकादमिक दृष्टि से श्रेष्ठ (excellent) होने की कसौटी यह है कि हम अपने विषय की प्रस्तुति पाश्चात्य शब्दावली में करते हैं या नहीं। मैं प्रश्न करता हूँ कि जितनी अकादमिक बहस होती है उस बहस में भारत कहाँ है? आज पश्चिम ही पश्चिम के साथ बहस करता है। भिन्न-भिन्न पत्रों का प्रस्तुतीकरण होता है, शोध होता है, संवाद होता है, चर्चा होती है, संगोष्ठी होती हैं, तब भिन्न-भिन्न वक्ता बात तो उसी पाश्चात्य शब्दावली में में करते हैं, शब्द प्रयोग थोड़ा बहुत दायें-बायें करते हैं।

दीनदयाल जी ने बौद्धिक जगत में भारत को स्थापित करने का प्रयत्न किया, इसीलिए दीनदयाल जी के विचार को समझने के लिए हमको भारतीय शब्दावली की प्रतिष्ठा और उसके अर्थ को योग्य प्रकार से समझना पड़ेगा। ऐसी दो बातें दीनदयाल जी के विचारों को समझने के लिए आवश्यक हैं।

मैं दीनदयाल जी के समग्र विचारों की चर्चा करने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ। केवल उनके आर्थिक विचारों की चर्चा करने के लिए यहाँ आया हूँ, क्योंकि मैं भी अर्थशास्त्र पढ़ाता रहा ऐसा मेरे परिचय में बताया गया है। पर मैं कौन सा अर्थशास्त्र पढ़ाता हूँ? जिसकी मैंने चर्चा की वही अर्थशास्त्र पढ़ाता था। दीनदयाल जी का अर्थचिंतन, आर्थिक दृष्टि, अर्थशास्त्र वर्तमान में पढ़ाये जाने वाले अर्थचिंतन से, आर्थिक दृष्टि से, अर्थशास्त्र से कैसे भिन्न है, इसको समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आज अर्थशास्त्र में तीन मुख्य धारायें हैं जिनसे अर्थशास्त्र को परिभाषित किया गया है। सन् 1776 ई0 में एडमस्मिथ ने सबसे पहले अर्थशास्त्र को अलग दृष्टिकोण के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। क्या है यह दृष्टिकोण? उसने अपनी किताब का नाम ही रखा "An

Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations" (राष्ट्र के धन की प्रकृति और कारणों की जांच)। इसमें उसने अर्थशास्त्र को 'Science of Wealth' धन के शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। अतः यह अर्थशास्त्र हमें यही सिखायेगा कि हम ज्यादा से ज्यादा धन का अर्जन कैसे कर सकते हैं । बाद में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में दो बड़े नाम आये मार्शल (Alfred Marshall) और पीगू (Arthur Cecil *Pigou)* मार्शल और पीगू ने अर्थशास्त्र को एक नये ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा कि Study of human being welfare and study of social welfare which can be measured with the measuring role of money. उनका कहना था 'हम सामाजिक कल्याण, सामाजिक व्यवहार के उस हिस्से का अध्ययन करते हैं जिसको मुद्रा के मापदण्ड से मापा जा सकता है'। मार्शल ने अर्थशास्त्र को भौतिक कल्याण (Material Welfare) के शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया।

उसके कुछ वर्षों के बाद एक विद्वान आया प्रो० राबिन्स। प्रो० राबिन्स ने कहा "Economics is the science that studies human behavior as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses." उन्होंने कहा कि मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं पर आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन सीमित हैं। यदि अनन्त आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन भी अनन्त होते तो संसार में कोई झगड़ा ही नहीं रहता, सब काम सबके हो जाते। पर साधन सीमित हैं और साधनों का एक गुण है कि वे अल्टरनेटिव यूजेज वाले हैं। एक ही साधन को आप भिन्न-भिन्न प्रयोगों में काम ले सकते हैं। मेरे पास सौ रूपये का नोट है मैं उससे खाना भी खा सकता हूं, मैं उससे पिक्चर भी देख सकता हूं, मैं चाहूं तो सैर करने के लिए भी जा सकता हूं। साधन के वैकल्पिक प्रयोग हैं। बिजली हमको उपलब्ध हैं हम उससे पंखा भी चला सकते हैं, खेती के काम में भी ले सकते हैं। अतः प्रयोगों के विकल्प (alternative uses) हैं। अब यह जो अर्थशास्त्र है वह हमको क्या सिखाता है, हम कौन से साधन चुने और सीमित साधनों से कौन सी आवश्यकता पूरी करें? तब उसने कहा यह चयन का विज्ञान है (It is science of choice), सब चीजें

चुन नहीं सकते, सब आवश्यकताओं को पूरा कर नही सकते, साधन सीमित हैं, पर सीमित साधन के अनेक प्रयोग हैं। हमको यह अपने विवेक से तय करना है किस देश में कौन से साधन को कौन सी आवश्यकता की पूर्ति में लगाना है। इसमें से साधनों के आवंटन (allocation) का सवाल खड़ा हुआ। अपने पास कौन से साधनों को कौन सी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाना, यह जो कला सिखाता है, यह सिद्धांत जो सिखाता है, यह जो नीति बताता है उसका नाम है अर्थशास्त्र। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ये तीन मुख्य परिभाषायें हैं और बाकी की परिभाषायें इन्हीं की जूठन हैं, इन्हीं की मिक्सचर हैं।

इसके आधार पर अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र के स्कोप के लिए आर्थिक चक्र (Economic circle) बनाया। अर्थशास्त्र में हम एक आर्थिक चक्र का अध्ययन करते हैं। उन्होंने कहा कि मनुष्य की आवश्यकतायें होती हैं। वह आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करता है। यह मनुष्य के स्तर पर भी सच है और देश के स्तर पर भी सच है। एक देश में अनेक आवश्यकतायें होती हैं। उस देश में उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न होता है। उसको आज की भाषा में बोलते है विभिन्न प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलाप (Various type of economic activities)। क्योंकि हमारी आवश्यकतायें हैं इसलिए हम क्रिया-कलापों में लगते हैं। अगर हमारी आवश्यकता ही नहीं होगी तो हम क्यों काम करते, हम क्यों भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलापों में परिश्रम करते? आर्थिक क्रियाकलाप इसलिए होते हैं कि आवश्यकतायें हैं। आर्थिक क्रिया-कलापों में से धन मिलता है। धन प्राप्त होने के बाद उन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और संतुष्टि होती है। पर यहां परमात्मा ने बड़ा झगड़ा खड़ा कर दिया कि किसी एक आवश्यकता की एक बार पूर्ति हो गई तो जरूरी नहीं है कि वही आवश्यकता दुबारा नहीं होगी। आज मैने रोटी खायी कल मुझे भूख नहीं लगेगी ऐसा तो है नहीं। अभी मैने कपड़ा पहन लिया तो दुबारा मुझे कपड़ा पहनने की आवश्यकता नहीं होगी ऐसा तो है नहीं। आवश्यकतायें जितनी हैं बार-बार पैदा होती हैं। सभ्यताओं के विकास के साथ-साथ आवश्यकताओं में बढ़ोत्तरी होती रहती है। यह आवश्यकताओं का चक्र है।

आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आर्थिक गतिविधियां,

आर्थिक गतिविधियों में से धन का अर्जन, धन के अर्जन से आवश्यकताओं की पूर्ति और फिर आवश्यकतायें खड़ी हो जाना। हम इसी सांसारिक चक्र में उलझे हुए हैं, जिसको कहा गया है आर्थिक चक्र (Economic circle)। सारा अर्थशास्त्र जो वर्तमान में हम पढ़ते-पढ़ाते हैं वह इसी चक्र के अन्तर्गत आता है। दीनदयाल जी ने इसमें थोड़ा सा जोड़ा, उन्होंने कहा यह अधूरा है, खण्डित विचार है, यह पूर्ण विचार नहीं है, यह समग्र विचार नहीं है, यह एकात्म विचार नहीं है। दीनदयाल जी ने भारत की शब्दावली में उसे पुरुषार्थ चतुष्ट्य कहा है। वर्तमान के चक्र में तो केवल अर्थ और काम का सर्कल है। आर्थिक गतिविधियां करना और कामनाओं को शान्त करना। इसमें यह तो पढ़ाया ही नहीं, यह तो सिखाया ही नहीं, यह तो बताया ही नहीं कि आप को धन कमाते समय कौन सी मर्यादाओं का ध्यान रखना है।

आजकल बहुत सारे स्टूडेन्ट्स एम.बी.ए. की पढ़ाई करने जाते हैं। एम.बी.ए. करके आते हैं तब मैं पूछता हूं तुमको क्या सिखाते हैं? कहते हैं हमको यह सिखाते हैं कि एम.बी.ए. बन जाने के बाद में तुमको एक टार्गेट पूरा करना है। किसी भी एम.बी.ए. के विद्यार्थी की जब नियुक्ति होती है तो उसे उसका अधिकारी क्या कार्य देता है? वह कहता है तुम्हें यह टारगेट पूरा करना है, चाहे इसके लिए कोई भी तरीका अपनाओ (You have to achive this target by this way or that way)। तुम्हें किसी भी तरीके से यह लक्ष्य पूरा करना ही है। उनको उचित-अनुचित से कोई मतलब नहीं है, उनका लक्ष्य पूरा होना चाहिए। आज जितनी भी प्रकार की आर्थिक समस्यायें अपने देश में और दुनिया में हैं जैसे घोटालें, ब्लैक मार्केटिंग, फिक्सिंग आदि ये तमाम तरह के जो खेल चल रहे हैं सब वर्तमान अर्थशास्त्र में उपजे हुए खेल हैं। हमको बताया ही यह जा रहा है कि अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए कोई भी रास्ता अपनाया जा सकता है। सफल व्यवसायी या सफल विक्रेता (Sales-man) किसको कहते हैं? जब कोई व्यक्ति विक्रेता बनता है तब उसे सिखाया जाता है कि तुम अपना सामान उस व्यक्ति को बेच कर आना जो सामान नहीं खरीदना चाहता, तभी तुम अच्छे सेल्समैन कहे जाओगे। यही वर्तमान

अर्थशास्त्र की दिशा है।

दीनदयाल जी यहां हस्तक्षेप करते हैं। वे कहते हैं यह अर्थशास्त्र, यह अर्थदृष्टि, यह अर्थचिंतन उचित नहीं। हमारे यहां धन अर्जन करना मना नहीं है, परन्तु इसमें धर्म की मर्यादा है। कहीं और कभी भी अपने शास्त्रों में अपने मनीषी परंपरा ने इसको मना नहीं किया। महाभारत के शान्ति पर्व में "दरिद्रं पातकं लोके" ऐसा लिखा है। दरिद्रता को उन्होंने आभूषण नहीं माना दरिद्रता पाप है। क्या हम अपने देश को गरीबी रेखा के नीचे रखना चाहते हैं? क्या अपने देश में कुपोषण के शिकार पांच करोड़ बच्चे रहने चाहिए? क्या दीनदयाल जी यही सिखाते हैं? क्या भारती अर्थ-चिंतन यही सिखाता है? यदि यह सिखाया होता तो हम सोने की चिड़िया कैसे बनते? अधिकतम उत्पादन करना, अधिक से अधिक धन कमाने की मनाही नहीं है, परन्तु धर्ममार्ग से कमाना है। मैं जिस अर्थशास्त्र को पढ़ता-पढ़ाता रहा यदि उन अर्थशास्त्रियों के बीच "धर्मेण धन" धर्म से धन बोलता हूं तो वे मुझे तुरंत कम्युनल बोलते हैं। उनका मानना है धर्म का और अर्थशास्त्र का क्या लेना देना। आज धर्म का अर्थ ही गलत हो गया। धर्म 'धृ' धातु से बनता है और 'धृ' धातु के तीन अर्थ हैं धारण, रक्षण, पोषण। वे नियम, कानून-कायदे, निर्मल व्यवहार जिसके कारण से व्यक्ति का, परिवार का, समाज का और सृष्टि का धारण, रक्षण, पोषण होता हो वह धर्म है। उसकी पूजा करते थे। आज सम्पोषणीयता (Sustainability) का सवाल खड़ा है। यदि धारण, रक्षण, पोषण का विचार नहीं करेंगे और हमारा व्यवहार अमर्यादित हो जायेगा, हमारी जीवनशैली गलत हो गई तो सम्पोषणीयता का सवाल खड़ा हो जायेगा। धनार्जन करना या अन्य कोई भी कार्य धर्म-मार्ग से होना चाहिए। मर्यादा के आधार पर होना चाहिए। तब नया अर्थ-चिन्तन, नयी अर्थ-स्थिति विकसित होगी। दीनदयाल जी ने वर्तमान अर्थ-चिंतन और अर्थ-स्थिति के संदर्भ में यह एक बात कही है।

दीनदयाल जी ने दूसरी बात इकनोमिक मैन के परिकल्पना की कही है। सबसे पहले विद्यार्थी को जब हम अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं तो उसको सिखाते हैं कि मनुष्य क्या है। हर एक शास्त्र मनुष्य को परिभाषित करता है। पॉलिटिकल साइन्स वाले पॉलिटिकल एनिमल कहते हैं और सोसियोलॉजी वाले उसे सोसल

एनिमल कहते हैं और मैकेनिकल साइन्स वाले उसको मैकेनिकल एनिमल कहते हैं। बायोलॉजी वाले कहते हैं हजारों-हजार कोशिकाओं का समूह (The bundle of thousands and thousands of cells)। हर एक शास्त्र अपने-अपने ढंग से मनुष्य को देखता है और मनुष्य को परिभाषित करने का प्रयत्न करता है। अर्थशास्त्र में भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। अर्थशास्त्र के निगाह में मनुष्य इकनोमिक मैन है। यदि ऐसा माना जाये तो सम्पूर्ण व्यवहार बदल जायेगा। मैं यदि कहूं भाप का इंजन। मैने इन्जन को भाप का इंजन क्यों कहा, क्योंकि यह इंजन भाप से चलता है। मैं कहूं बिजली की मोटर है तो मैंने इस मोटर को बिजली की क्यों कहा, क्योंकि यह बिजली से चलती है। उसी प्रकार यदि मैं मनुष्य को आर्थिक मनुष्य कहूंगा तब इसका अभिप्राय होगा कि यह मनुष्य अर्थ से चलता है, पैसे से चलता है, धन से चलता है।

मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में बाजार में जाकर निर्णय करना है कि मैं कोई सामान खरीदूं कि न खरीदूं तब निर्णय का आधार वर्तमान अर्थशास्त्र क्या बताता है? कम पैसे में मिले तो खरीद लो, क्वालिटी क्या है इसकी चिंता नहीं करना। उत्पादक किसी चीज का उत्पादन करे की न करे इसका उसको निर्णय करना है तो वर्तमान अर्थशास्त्र क्या सिखाता है? जिसमें ज्यादा लाभ मिले उसका उत्पादन करो, जिसमें कम लाभ मिले उसका उत्पादन मत करो। देश के लिए जरूरी है कि नहीं है, फायदे की चीज है कि नहीं है, इसका विचार नहीं करना है। समाज के नाते से, कर्मचारी के नाते से, मजदूर के नाते से मनुष्य का व्यवहार कैसा होगा? वर्तमान अर्थशास्त्र सिखाता है कम से कम काम करना और ज्यादा से ज्याद पैसा लेना। कम्युनिस्टों का मजाक चलता है, "रघुपति राघव राजा राम, आधा काम पूरा दाम"। मालिक के रूप में, पूंजीपति के रूप में दृष्टिकोण क्या है? कर्मचारी से मजदूर से अधिकतम काम लेना और कम से कम मजदूरी देना। सम्पूर्ण अर्थव्यवहार उलटी दिशा में चला गया है, क्योंकि हम ने मनुष्य को आर्थिक मनुष्य मान लिया।

दीनदयाल जी यहां हस्तक्षेप करते हैं कि मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा इन चारों का समुच्चय है। इसलिए अगर मनुष्य के सुख का शास्त्र आप अर्थशास्त्र को बनाना चाहते हैं तो आपको ऐसी आर्थिक नीतियां बनानी

पड़ेंगी, ऐसे आर्थिक सिद्धांत लाने पड़ेंगे, जिसमें चारों की आवश्यकता की पूर्ति हो। केवल एक की आवश्यकता पूर्ति से काम नहीं चलेगा। वर्तमान में तो जोर केवल शरीर की आवश्यकता की पूर्ति पर है, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर है। मेरे शरीर की सुख सुविधाओं के लिए ज्यादा-ज्यादा साजो सामान का उत्पादन कैसे हो और बाजार में मुझे उपभोग के लिए कैसे मिल जाये, यही तो वर्तमान का अर्थशास्त्र है। इसी को तो हम जीवनस्तर (Standard of Living) कहते हैं। किसी का रहन-सहन का स्तर बढ़ रहा है, क्योंकि उसके पास उपभोग करने के लिए वस्तुएं और सेवायें ज्यादा हैं। दीनदयाल जी कहते हैं केवल शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति पर ज्यादा ध्यान देंना यह गड़बड़ है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति तो हो रही है पर मन उदास है, मन में अवसाद है, मन में भ्रम है तब आप प्रसन्न रहोगे क्या? आनन्द आयेगा क्या? नहीं आयेगा आनन्द। आज कल सारे दुनिया के तथाकथित विकसित देशों में मनोरोगी (Psychotic Patient) ज्यादा हैं। अपने देश में भी जिनके पास धन दौलत ज्यादा है क्या वे चैन की नींद सो पाते है? क्या मन खुश है? क्या मन प्रसन्न है?

दीनदयाल जी कहते हैं हमारे शास्त्रों के अनुसार मन की आवश्यकता की भी पूर्ति होनी चाहिए। शरीर और मन के बाद बुद्धि आती है। बुद्धि में विवेक है, प्रज्ञा है, ज्ञान है, बुद्धि की उलझन दूर होनी चाहिए। बुद्धि संभ्रमित है, समझ ही नहीं आ रहा है क्या उचित है क्या अनुचित है, क्या विवेकपूर्ण है क्या अविवेकपूर्ण है। शरीर की आवश्यकता पूरी कर ली, मन की आवश्यकता पूरी कर ली पर बुद्धि का विचार नहीं किया तो पूर्ण नहीं कहेंगे। इसी प्रकार फिर आत्मा का स्वयं के अस्तित्व का विचार करना पड़ेगा। सृष्टि के साथ एकाकार परम तत्व से मिलना है। इन चारों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला अर्थ-चिंतन, अर्थशास्त्र विकसित होना चाहिए। ऐसा दीनदयाल जी कहते हैं। सरल कहना हो तो 'शरीर की मुख्य आवश्यकता आहार, मन की मुख्य आवश्यकता है प्यार, बुद्धि की मुख्य आवश्यकता है विचार और आत्मा की मुख्य आवश्यकता है साक्षात्कार।

क्या आप ऐसे शास्त्र का विकास कर सकते हैं, जिसके कारण से

शरीर को आहार मिले, देश के तमाम व्यक्तियों की जरूरत की पूर्ति की गारंटी हो? मनुष्य की तमाम जरूरत की पूर्ति के साथ ही ऐसी अर्थव्यवस्था विकसित करनी पड़ेगी, जिसमें मन को प्रेम, आत्मियता, स्नेह प्राप्त हो सके। आज तो वह है ही नहीं, पति-पत्नी के बीच स्नेह नहीं है, पिता-पुत्र के बीच स्नेह नहीं है, भाई-भाई के बीच स्नेह नहीं है। परिवार के लोग ही हत्यायें कर रहे हैं,। परिवार खो चुका है, प्यार खो चुका है, आत्मियता खो चुकी है, स्नेह गायब हो गया है। मन को प्यार चाहिए, बुद्धि को विचार चाहिए तभी प्रगति होती है। नयी तकनीकी, नये सिद्धांत, नया आविष्कार, और नये तरीके तभी आयेंगे जब देश में विचारवंत लोग होंगे। अंततोगत्वा हम सब लोगों का उद्देश्य आत्मा का साक्षात्कार है। इसको पूरा करने के लिए विचार करना पड़ेगा। दीनदयाल जी ने इस दृष्टि से इन दो बातों को लेकर के नयी अर्थदृष्टि नया शास्त्र देने का प्रयत्न किया।

अर्थरचना के बारे में दीनदयाल जी ने बोला हमारे देश की अर्थरचना कैसी होनी चाहिए? अपने देश का दुर्भाग्य हुआ कि सेकण्ड साइबर लैण्ड से जो नेहरू माडल हमने स्वीकार किया वह रसियन मॉडल की कापी थी। उसमें हमने भारी और बुनियादी उद्योगों (Heavy and Basic Industries) को अपनी अर्थव्यवस्था (Economy) के केन्द्र में रख दिया और अपने छोटे उद्योगों को दुर्लक्ष्य कर दिया, कृषि को भी दुर्लक्ष्य कर दिया। हमारे देश में धन और आय का केन्द्रीकरण (Concentration of Wealth and Income) हो गया। अभी कुछ दिनों पहले एक अध्ययन प्रकाशित हुआ। आप लोगों में से शायद कुछ लोगों ने पढ़ा होगा। उस स्टडी में यह बताया गया था कि, अपने देश के शहरी क्षेत्र के उच्चतम दस प्रतिशत परिवार की उच्चतम आय (Highest Income) और निम्नतम 10 प्रतिशत परिवार की निम्नतम आय (Lowest Income) इन दोनों के बिच पांच लाख गुने का अंतर है। क्या इससे आपाधापी नहीं बढ़ेगी, इससे आतंकवाद नहीं बढ़ेगा, इससे उग्रवाद नहीं आयेगा, इसमें अराजकता नहीं आयेगी? इतनी भीषण असमानता के कारण, केवल कुछ लोगों की आय बढ़ गई। कुछ लोगों के रहन-सहन का ढंग बढ़ गया तो देश की ग्रोथ हो गई क्या?

दीनदयाल जी ने कहा पुनर्चिन्तन करना पड़ेगा। उन्होंने भारतीय

अर्थतंत्र की पुनर्रचना के तीन आधार बताये-स्वदेशी, स्वावलंबल और विकेन्द्रित अर्थतंत्र। स्वदेशी अर्थतंत्र चाहिए अर्थात् देश की कम से कम प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के संसाधनों से, भारत की मानव शक्ति से, भारत की जरूरतें पूरी करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे आपकी निर्भरता समाप्त होगी, नहीं तो दुनिया के देशों के गुलाम हो जायेंगे, परिणाम स्वरूप आर्थिक साम्राज्यवाद आयेगा। इसके लिए स्वदेशी और स्वावलंबन, अपने पैरों पर खड़ा होना शब्द प्रयोग किया। उन्होंने आत्मनिर्भरता शब्द प्रयोग नहीं किया, स्वावलम्बी शब्द प्रयोग किया। यदि कुछ चीजों की कमी हो जाती है तो दुनिया के दूसरे देश से आयात करेंगे और जिन चीजों की हमारे देश में अधिकता है उसका निर्यात करेंगे, इस प्रकार देश को स्वावलम्बी बनाना है।

तीसरा था विकेन्द्रित अर्थतंत्र खड़ा करना। चली आ रही व्यवस्था में पहले केन्द्रीकरण कर लिया फिर टैक्स लगाकर गरीबों में बांट दिया यही अपनाया गया है, परन्तु दीनदयाल जी कहते आपका उत्पादन का तंत्र ही ऐसा होना चाहिए कि उत्पादन में ही कम से कम विषमता खड़ी हो। पहले आप विषमता निर्माण कर लो फिर समता लाने का प्रयास करोगे तो संसाधनों का नुकसान (Wastage of Resources) होगा। दीनदयाल जी ने एक और बात कही अपने देश का उत्पादन बढ़ाना है, आर्थार्जन करना है तो उसमें तकनीकी का प्रश्न खड़ा होता है। तकनीकी को लेकर बड़ा विवाद है। गांधी जी ने जब हिन्द स्वराज लिखा तब भी विवाद खड़ा हुआ और दीनदयाल जी ने जब एकात्म मानववाद दिया तब भी विवाद खड़ा हुआ। ठीक से न समझने के कारण से दोनो महापुरुषों के बारे में यह कहा गया कि ये टेक्नोलॉजी के विरोधी हैं, जबकि दोनों के बारे में यह सच नहीं है।

दीनदयाल जी ने कहा तकनीकी चाहिए पर कैसी तकनीकी चाहिए? हिन्दुस्तान के लिए उपयुक्त तकनीकी (Appropriate Technology) कौन सी है? उन्होंने दो विशेषता बतायी पर्यावरण प्रेमी और रोजगार सृजनकारी तकनीकी चाहिए। वर्तमान में दुनिया के देशों में जो टेक्नोलॉजी चल रही है वह पर्यावरण प्रेमी (Environment Friendly) नहीं है। परिणाम स्वरूप पर्यावरण

का क्षरण हो रहा है। प्रदूषण बढ़ाकर पर्यावरण को नष्ट कर रहा है और हम पृथ्वी सम्मेलन कर रहे हैं। केवल भाषण हो रहे हैं और पर्यावरण लगातार नष्ट हो रहा है। इसमें आधारभूत कमी कहां है? आधारभूत कमी तो आपके टेक्नोलॉजी के चयन में है। हमारे सामने आज यह चुनौती है कि हम अपने देश के अनुकूल कौन सी ऐसी टेक्नोलॉजी विकसित कर सकते हैं, जिस टेक्नोलॉजी की द्वारा पर्यावरण की कम से कम हानि होती है। इसमें हमने नकल की, अपनी अकल का प्रयोग नहीं किया।

एक ई.एफ. शूमाकर नाम के बड़े विद्वान हुए, जिनकी पुस्तक 'स्माल इज ब्यूटीफुल' बहुत प्रसिद्ध हुई। अपनी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक काल खण्ड में भारत सरकार ने शूमाकर को सलाहकार बनाकर बुलाया। हमारी स्वतंत्र भारत की परम्परा में अपने देश का कन्सल्टेन्ट पसन्द नहीं है, विदेश का कन्सल्टेन्ट ही पसंद है। शूमाकर यहां आया तो अपने खाली समय में उसने भारत के शास्त्रों को पढ़ना शुरू कर दिया और शास्त्रों को पढ़ने के बाद उसे लगा कि भारत के पास दुनिया को सलाह देने के लिए अथाह ज्ञान का भण्डार है और मुझको कन्सल्टेन्सी के लिए बुला लिया। तब वह वापस लंदन चला गया और उसने वहां शुरू किया उपयुक्त तकनीक (Appropriate Technology)।

आज जिस टेक्नोलॉजी को हम अपना रहे हैं वह तो उपयुक्त नहीं है। बेरोजगारी और प्रदूषण की समस्यायें खड़ी कर रही है। हमने संकर (Hybrid) प्रजाति के बीजों के नाम पर न्यू एग्रीकल्चर टेक्नोलॉजी को सन् 65-67 में स्वीकार कर लिया। स्वामीनाथन जैसे लोगों ने उसका बड़ा गुणगान किया कि कृषि की पैदावार बढ़ेगी। उन्हीं की सलाह पर स्वीकार किया गया। उत्पादन तो बढ़ा परन्तु अब आज उसका अन्तिम परिणाम क्या है? अंतिम परिणाम यह है कि जल स्तर नीचे चला गया। रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक के कारण से धरती की मृदा उत्पादकता (Soil Fertility) कम हो गई। जो अनाज या फल उत्पन्न हो रहा है उसमें रासायनिक घटक (Chemical Content) बढ़ गया, जिससे स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। हमने यह विचार ही नहीं किया कि हमारे देश की धरती और परिस्थिति के अनुसार कौन सी टेक्नोलॉजी उचित है, इसलिए दीनदयाल जी कहते हैं हमको टेक्नोलॉजी के चयन में अधिक सावधानी

रख करके चयन करना चाहिए।

दीनदयाल जी टेक्नोलॉजी विरोधी नहीं हैं । वे पुरातनपंथी भी नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो शब्द प्रयोग किये "देशानुकूल और युगानुकूल"। दीनदयाल जी कहते हैं 'पांच हजार साल पुरानी चीजों की अंधी नकल मत करो वरन् उसको युगानुकूल बनाकर, परिवर्तन कर उसका प्रयोग करो। अगर वह गलत है, आज के लिए उपयुक्त नहीं है, तो त्याग कर दो।' इसी प्रकार विदेश से कोई चीज आपको ग्रहण करनी है तो उसको देशानुकूल बनाकर ग्रहण करो। अपने देश की परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन और परिवर्धन करके उसको स्वीकार करना चाहिए। दीनदयाल जी ने एक बड़े महत्व की परिकल्पना दी 'अर्थायाम'। आज कल के अर्थशास्त्र के विद्यार्थी अर्थायाम क्या बला समझ नहीं पाते। मैं सरल भाषा में उसको समझाता हूं। आज कल प्राणायाम सबने रट लिया है। बाबा राम देव ने बड़ा काम किया है, जिससे आज कल यह घर-घर में प्रचलित हो गया है। श्वास लेने और श्वास छोड़ने के संतुलित प्रक्रिया का नाम प्राणायाम है। श्वास कितनी देर रोकना तथा श्वास कैसे छोड़ना इसकी विधि है। एकदम नहीं छोड़ना धीरे-धीरे छोड़ना उसकी मर्यादायें हैं। शरीर के स्वास्थ्य के लिए श्वास लेना और श्वास छोड़ना, इसके बीच में संतुलन आवश्यक है तभी शरीर स्वस्थ रहेगा।

आप कहेंगे साहब मेरा स्वास्थ्य है, आप कौन हाते हैं मुझे बताने वाले? मैं श्वास लूंगा पर छोडूंगा नहीं, आप बताओ मेरा क्या बिगाड़ लोगे, ऐसा कोई कह सकता है। आज कल तो लोग कहते हैं कि भाई मेरी बॉडी है, मेरी बॉडी का मैं कैसे प्रदर्शन करूं आप कौन होते हैं मर्यादा बताने वाले। इस परिस्थिति में हमारा तो इतना ही कहना है तुम नहीं छोड़ोगे तो तुम्हारा क्या होगा इसका विचार करो। दीनदयाल जी ने समझाया जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए प्राणायाम आवश्यक है वैसे ही अर्थ व्यवस्था के स्वास्थ्य के लिए अर्थायाम आवश्यक है। क्या है अर्थायाम? दीनदयाल जी ने कहा देश में न अर्थ का अभाव चाहिए न अर्थ का प्रभाव चाहिए। दोनो देश के लिए नुकसानप्रद हैं तथा व्यक्ति के जीवन में भी नुकसानप्रद है। समाज जीवन में भी अर्थ का अभाव है, अर्थ है ही नहीं लोग भूखे मर रहे हैं तो देश की दुरावस्था आ जाती है। अपने शास्त्र में कहा

गया है 'बुभुक्षितः किम् न करोति पापं? भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता। उसे कुछ दिखाई नहीं देता, वह कुछ भी करेगा, वह अफरातफरी करेगा, इसलिए अर्थ का अभाव देश में नहीं रहना चाहिए।

दीनदयाल जी अगली बात कहते हैं अर्थ का प्रभाव भी नहीं रहना चाहिए नहीं तो विलासी जीवन हो जायेगा। विलासी जीवन वाला व्यक्ति भी अर्थ के व्यामोह में और अर्थ के नशे में क्या-क्या शोषण नहीं करता है, कैसी-कैसी बुराईयों को जन्म नहीं देता है। देश के स्तर पर भी यह सच है और व्यक्ति के स्तर पर भी यह सच है। आखिर दुनिया के दो-चार देश जो अपने को विकसित कहते हैं, ऐसे धनी देश दुनिया के विकासशील देशों का शोषण ही तो कर रहे हैं। अपने भी समाज जीवन में जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन होता है वे कैसा-कैसा आचरण करते हैं, किन-किन चीजों पर खर्च करते हैं यह दिखाई पड़ता है। एक तरफ व्यक्ति भूखों मर रहा है और एक तरफ एक पचास मंजिलों वाली अट्टालिका में रह रहा है। एक के सर पर छत नहीं है, एक को खाने के लिए दो जून की रोटी नही है और एक के थाली में पचास प्रकार के व्यंजन परोसे जाते हैं और बर्बाद होते हैं।

दीनदयाल जी समझाते हैं, न अर्थ का अभाव चाहिए न अर्थ का प्रभाव चाहिए, इसको उन्होंने कहा अर्थायाम। अब किसी भी शासक के लिए किसी भी अर्थशास्त्री के लिए यह चैलेंज है कि आप कैसी नीति और कैसा सिद्धांत बना कर खड़ा करते हैं, जिसके कारण से देश न अर्थ के अभाव से परेशान हो न अर्थ के प्रभाव से परेशान हो। एक और भी प्रकार से उन्होंने अर्थायाम को उत्पादन, वितरण, और भोग के बीच संतुलन के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है उत्पादन होना चाहिए, उत्पादन बढ़ाना चाहिए। पर आज कल अपने देश में उत्पादन तो बढ़ा, परन्तु कैसे बढ़ा? हम लोग ग्रोथ रेट मापते हैं 7.5 प्रतिशत ग्रोथ रेट हो गई, लेकिन यह ग्रोथ रेट केवल देश के सौ बड़े घरानों की इनकम बढ़ने से हुई है। इसको देश की ग्रोथ रेट कहेंगे क्या? दीनदयाल जी कहते हैं उत्पादन के साथ वितरण की समानता का विचार करना चाहिए, संतुलन बिठाना चाहिए। देश में समान वितरण का कोई सिस्टम बनना चाहिए और भोग का भी संतुलन रहना चाहिए।

उपभोक्तावाद बढ़ रहा है। दुनिया में संकट बढ़ते हुए उपभोक्तावाद के कारण है। तमाम अनावश्यक चीजों का उपभोग बढ़ता चला जा रहा है। अब अर्थशास्त्रियों ने तो सिद्धांत ही दे दिया है उपभोग बढ़ाओ, खूब उपभोग बढ़ना चाहिए। आप की इच्छा नहीं है तो आपकी इच्छा निर्माण करने के लिए हम टी.वी. पर, सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियों को लाकर विज्ञापन दिलवायेंगे। हाथ नहीं धोये तो हाथ में किटाणु हैं, इसलिए हाथ धोओ। आपने हाथ धोया, किससे पानी से, नहीं-नहीं कीटाणु हैं, साबुन से धोयें। कौन से साबुन से धोयें? उसने साबुन का नाम बताया लाईफबाय लीजिए। अतः हमने लाईफबाय खरीद लिया। हमारी इच्छा नहीं थी, आवश्यकता नहीं थी, फिर भी हमने लाईफबाय खरीद लिया। आजकल बहुत सारे सामान देश में और दुनिया में विज्ञापन के आधार पर खरीदे जा रहे हैं।

दीनदयाल जी ने कहा पहले उपभोग के अनुसार उत्पादन होता था अब उत्पादन पहले होता है और उस उत्पादन को खपाने के लिए बाजार तैयार किया जाता है। इसी में से दुनिया भर में आर्थिक साम्राज्य आ रहा है। उन्होंने कहा हमें बदलना पड़ेगा। सारे देश को सीमित, संयमित, सदाचारी उपभोग शैली और जीवन शैली तथा नये प्रकार की उपभोग पद्धति लानी चाहिए। नये प्रकार की जीवन पद्धति के साथ-साथ नये प्रकार का जीवन पद्धति का स्तर लाना चाहिए। यदि आप अनावश्यक जबरदस्ती बहुत ज्यादा उपभोग करते चले जायेंगे तो पृथ्वी बचेगी क्या? देश के संसाधन बचेंगे क्या? हम सारा लोहा खा गये, सारा कोयला खा गये, सारा पानी पी गये, सारे वृक्षों को काट गये और अब चिल्ला रहे हैं हम बचेंगे कि नहीं बचेंगे। भोगवादी जीवन शैली की वजह से अस्तित्व का सवाल खड़ा हो गया है।

दीनदयाल जी हमें समझाते हैं कि नये अर्थशास्त्र में, नयी अर्थदृष्टि में हमको सीमित, संयमित, सदाचारी उपभोग शैली और जीवन शैली अपनाना पड़ेगा। पश्चिम के लोगों को थोड़ा-थोड़ा समझ में आने लगा है। अब उन्होंने बाजार से छुट्टी (Market Holyday) अर्थात बाजार नहीं जायेंगे, (T. V. Holiday) टीवी नहीं देखेंगे शुरू कर दिया। उन्होंने बाजार जायें और सामान खरीद कर न लायें ऐसा तो संयम सीखा नहीं। पर भारत ने तो संयम करना

सीखा है, इसलिए दीनदयाल जी ने समझाया हमको आने वाले समय में एक ऐसा अर्थशास्त्र खड़ा करना पड़ेगा, जिस अर्थशास्त्र के माध्यम से हम एक सम्पोषणीय उपभोग पद्धति (Sustainable Consumption Pattern) लायेंगे। हम सम्पोषणीय विकास (Sustainable Development) लाना चाहते हैं तो इसकी पूर्व शर्त है सम्पोषणीय उपभोग पद्धति (Sustainable Consumption Pattern) आना चाहिए।

दीनदयाल जी ने कहा आज अर्थ-विकृति है। हमें अर्थ-विकृति से अर्थ-संस्कृति की ओर बढ़ना पड़ेगा। कैसी अर्थ-विकृति है? उन्होंने कहा आज के अर्थशास्त्र में पढ़ाया जाता है कमाने वाला खायेगा। उसी में से निकला है योग्य को ही जीने का अधिकार है (Survival of the Fittest), जिन्दा रहने का अधिकार निठल्ले को नहीं है, अपाहिज को नहीं है, रोगी को नहीं है, वृद्ध को नहीं है। काम करोगे तो खाओगे, इसलिए नारा दिया गया 'कमाने वाला खायेगा'। दीनदयाल जी का कहना है यह गलत नारा है, अधूरा नारा है। इसके स्थान पर नारा होना चाहिए 'कमाने वाला खिलायेगा और जो जन्मा है सो खायेगा'। अपने परिवार में कोई अपाहिज है, काम न करने की स्थिति में है तो उसको जिन्दा रहने का अधिकार नहीं है क्या? तुमने कमाया तो तुम्ही खाओगे क्या? दीनदयाल जी कहते हैं यह संकुचित दृष्टिकोण है। तुमने कमाया है तो समाज में बांट कर खाओ, सबको देकर खाओ। तभी तो **'सर्वेभवन्तु सुखिनः'** आयेगा नहीं तो कैसे आयेगा। इसलिए दीनदयाल जी ने कहा, 'कमाने वाला खिलायेगा, जो जन्मा है सो खायेगा'। पर इतना ही कह कर छोड़ देते तो लोग सोचते काहे के लिए काम करें, ठीक है कोई न कोई कमायेगा और हम खायेंगे। ऐसे में निठल्ले लोगों की संख्या बढ़ जाती। 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।। दासमलूका कह गये सबके दाता राम।' लेकिन अगली बात दीनदयाल जी ने कही 'जो खायेगा, सो कमायेगा'। जहां तक सम्भव है कमाने में अगर तुम ठीक हो, योग्यता है, क्षमता है, तो निठल्ला नहीं रहना, बेकार नहीं बैठे रहना, देश के लिए तुम्हारा योगदान होना चाहिए।

एक नयी प्रकार की अर्थ-संस्कृति देने का काम दीनदयाल जी ने किया।

दीनदयाल जी ने कहा वर्तमान की अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति खो गया है। व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में अस्तित्व ही नहीं रहा गया है। हम बाजार में जाते हैं, बनियान खरीदना है, शर्ट खरीदना है, तब दुकानदार कहता है दस नम्बर का बनियान निकालना, पचास नम्बर का शर्ट निकालना। हम स्कूल कालेज में पढ़ाते हैं तो रोल नम्बर्स में नम्बर बोलते हैं, व्यक्ति का नाम नहीं बोलते हैं। वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति तो व्यक्ति रह ही नहीं गया, व्यक्ति नम्बरों में बदल गया, व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो गया, व्यक्ति की गरिमा समाप्त हो गई। दीनदयाल जी कहते हैं "हम एक ऐसी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व्यवस्था खड़ी करना चाहते हैं जहां व्यक्ति, व्यक्ति के नाते जाना जाए। व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा होनी चाहिए। उसके अस्तित्व को स्थान मिलना चाहिए।"

दूरदर्शी उद्योगनीति के बारे में दीनदयाल जी ने अपरमात्रिक उद्योगनीति ऐसा शब्द प्रयोग किया है। यह थोड़ी टेक्निकल थेओलाजी है। अपरमात्रिक उद्योगनीति का दो लाईन में अर्थ है कि आप उद्योगों के द्वारा इतना उत्पादन करें जिससे देश की आवश्यकता भी पूरी हो जाये और कुछ न कुछ बच जाये, जिसे आप निर्यात कर सकें। इसको उन्होंने कहा अपरमात्रिक यानी जितनी आपकी जरूरत है उससे थोड़ा ज्यादा उत्पादन करें। इसी प्रकार कृषि के सम्बन्ध में अदैवमात्रिका कृषि ऐसा उन्होंने कहा है। उन्होंने कहा खेती की मुख्य समस्या है पानी, सिंचाई। वर्तमान की खेती मानसून पर निर्भर है यानी देव पर निर्भर है। आपको सिंचाई और खेती की ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी कि देवों पर निर्भर न रहे यही 'अदेवमात्रिका' कृषि है। देव आश्रित कृषि में अतिवृष्टि और अनावृष्टि का दंश झेलते रहेंगे। अतः कृषि नीति ऐसी चाहिए जिसमें सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो।

संक्षेप में अगर दीनदयाल जी की अर्थदृष्टि को मुझे स्लोगन के तौर पर कहना हो, तो दीनदयाल जी हमें यह संदेश देना चाहते हैं कि हमको एक ऐसी अर्थव्यवस्था का विकास करना चाहिए जिसमें हर हाथ को काम मिले। आज काम नहीं मिल रहा है। अपने देश में भी समस्या है, दुनिया में भी बेरोजगारी की समस्या है। अमेरिका भी परेशान है, यूरोप भी परेशान है। हम एक ऐसी अर्थव्यवस्था का विकास करेंगे, हर हाथ को काम मिले, हर पेट

को रोटी यानी हर व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। यहां रोटी प्रतीकात्मक शब्द है। हर हाथ को काम, हर पेट को रोटी और हर खेत को पानी इन तीनो मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति जो देश कर लेगा, जो अर्थव्यवस्था कर लेगी वह सुखी अर्थव्यवस्था होगी और किसी भी अर्थनीति का मुख्य लक्ष्य यही होना चाहिए। आर्थिक-नीति का मुख्य लाभ किसको हो रहा है? अपने देश में रहने वाले गरीबतम व्यक्ति को अगर आर्थिक-नीति का लाभ हो रहा है तो आर्थिक नीति सही है। इसके लिए उन्होंने अन्त्योदय की बात कही। कुल मिलाकर दीनदयाल जी ने भारतीय मनीषियों की परम्परा के विचारों को उठा कर वर्तमान की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक अर्थदृष्टि, एक अर्थचिंतन एक अर्थव्यवस्था देने का प्रयत्न किया। आज आवश्यकता है हम उसको वर्तमान संदर्भ में समझें, पढ़ें और उसके हिसाब से अपने देश के सम्बन्ध में नये प्रकार का अर्थशास्त्र गढ़ने का प्रयत्न करें।

*****

प्राच्य भारतीय शिक्षा पद्धति एवं वर्तमान परिदृश्य

सुश्री इन्दुमति काटदरे[1]

शिक्षा के सन्दर्भ में विचार करते समय यह ध्यान देना आवश्यक है कि व्यक्ति वैसा ही होता है जैसी शिक्षा उसको मिली होती है। सीखने की प्रक्रिया तो श्वास शुरू होने के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। जन्म से वह सीखना प्रारम्भ करता है, बोलना सीखता है चलना सीखता है, खाना सीखता है, व्यवहार करना सीखता है, इसलिए व्यक्ति वैसा ही होता है, जैसी उसकी शिक्षा होती है और समाज वैसा ही होता है, जैसी उस समाज की शिक्षा व्यवस्था होती है। अतः विश्व वैसा ही होता है जैसी शिक्षा उसको बनाती है। अब इस सन्दर्भ को वर्तमान राष्ट्रीय और वैश्विक परिस्थिति के साथ जोड़ कर देखेंगे तो ध्यान में आयेगा कि हमारा देश हमारा समाज अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। ऐसी चर्चा हम भी करते हैं और अखबारों में, पत्रिकाओं में, संचार माध्यमों में भी निरंतर होती रहती है। विश्व संकटों से ग्रस्त है यह हमारे अनुभव का विषय है तो इसके कारण को हमें शिक्षा में जोड़ना ही पड़ेगा। अगर हम यह कहेंगे कि व्यक्ति वैसा ही होता है जैसा वह सीखता है, तो फिर शिक्षा ऐसी क्यों है कि विश्व ऐसा व्यवहार करता है? शिक्षा ऐसी क्यों है कि हमारा समाज ऐसा व्यवहार करता है जो समाज एवं विश्व के अनुकूल नहीं है? आये दिन हम भ्रष्टाचार की, अनाचार की, बलात्कार की शिकायत सुनते हैं। किसने उसको बलात्कार करने के लिए प्रेरित किया, किसने भ्रष्टाचार सम्भव हो सके ऐसी स्थिति निर्माण की? ऐसी आर्थिक नीतियां

[1]सुश्री इन्दुमति काटदरे, संयोजिका, पुनरुत्थान विद्यापीठ, कर्णावती, अहमदाबाद द्वारा सोमवार, दिनांक 10 नवम्बर 2014 को अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर, भवन, इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान

और व्यापार की नीतियां क्यों बनीं कि बेराजगारी भी बढ़ती जाये और आर्थिक भ्रष्टाचार भी बढ़ता जाये? यदि हम देखें तो कहीं न कहीं इन सबका स्रोत यूनिवर्सिटियों में है।

मैं एक बहुत सीधी बात कहूंगी, जब हम 11वीं-12वीं से या बी.ए. से अर्थशास्त्र पढ़ाना शुरू करते हैं तब बेस लाईन सम्पूर्ण पाठ्यक्रमों की अर्थशास्त्र की क्या होती है? अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं ही है (Economics has nothing to do with ethics) यही सबसे पहले पढ़ाया जाता है। फिर इसका धीरे-धीरे करके विस्तार होता है, विकास होता है, इसकी तात्विक चर्चा होती है, अन्यान्य आयाम इसके चर्चा में आते हैं और वो धीरे-धीरे करके मानस में, विचारों में, विचारों से व्यवहारों में और व्यवहार से सर्वसामान्य लोगों की समझ तक ऐसे व्याप्त होते जाता है। परिणाम स्वरूप सामान्य यूनिवर्सिटी में न पढ़ा हुआ व्यक्ति भी कहने लगता है कि अरे भाई नीति-नीति करोगे, प्रामाणिकता-प्रामाणिकता करोगे तो दो पैसे कमा नहीं सकोगे। इस चिन्तन का उद्‌गम स्थान कहां पर है? उद्‌गम स्थान तो पाठ्य पुस्तक में है, जहां से वो सामान्य व्यक्ति के व्यवहार तक आ गया और यह केवल बोलने की बात नहीं है, आज ऐसा ही होता है। फिर दूसरा अर्थशास्त्र के साथ जुड़ा हुआ दृष्टिकोण यह है कि पैसे की ही कीमत है, पैसे के आधार पर ही प्रतिष्ठा होती है। अतः पैसे के लिए सम्पूर्ण व्यवस्था की अर्थिक दृष्टि हो गई। Everything to be sold now सब का मार्केटाइजेशन हो गया है। विद्या बेचने के लिए है, धर्म बेचने के लिए है, सेवा बेचने के लिए है। अब सेवा, विद्या और धर्म ही बेचने लायक हो गया तो फिर अन्न, औषधि ये तो बेचने की वस्तु होगी ही इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है। परिणाम यह कहता है कि अन्न बिकने की वस्तु हो जाता है तो अन्न संकट पैदा होता है, पानी बिकने की वस्तु हो जाता है तो जल संकट पैदा होता है, औषधि बिकने की वस्तु हो जाती है तो अस्वास्थ्य बढ़ता है, रोग बढ़ जाते हैं। डॉक्टर का पहला व्रत यह होना चाहिए कि जहां डॉक्टर है वहां आसपास बीमारी नहीं होनी चाहिए। उसके

स्थान पर चिन्तन ऐसा हो गया है कि वर्षा ऋतु आ गई वर्षा होगी और लोग बड़ी संख्या में बिमार होंगे, हमारा धन्धा अच्छा चलेगा। यह क्या है? यह नीति कहां से आयी कि everything has to be sold, everything have to be valued in terms of money।

अब मूलरूप से अगर सोचेंगे तो पूरे समाज को चलाने वाली तीन सत्तायें होती हैं। एक होती है धर्मसत्ता या ज्ञानसत्ता, दूसरी होती है राज्यसत्ता और तीसरी होती है अर्थसत्ता। हमारे यहां भारत में शिक्षा हमेशा धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करती रही है। इसमें सबसे ऊपर धर्मसत्ता होनी चाहिए, ज्ञान सत्ता होनी चाहिए, उसके अधीन राज्य सत्ता होनी चाहिए और उसके अधीन अर्थसत्ता होनी चाहिए तभी समाज ठीक चलता है, तभी सारे व्यवहार ठीक चलते हैं, सारी व्यवस्थायें ठीक चलती हैं, तभी सारी नीतियां ठीक बनती हैं। आज यह बिल्कुल उल्टा हो गया है। अर्थसत्ता सबसे ऊपर हो गई है। राज्यसत्ता भी अर्थसत्ता से ही चलने लगी है और यदि हम थोड़ा विचार करेंगे तो इन दोनों के अधीन ज्ञान सत्ता हो गई है। यूनिवर्सिटी कौन चलाता है? कक्षा में अध्यापक कोई एक विषय पढ़ाता है, लेकिन He is controlled and directed regulated by some other forces. वह ज्ञान की सत्ता नहीं है, चलाने वाली सत्ता दूसरी है। फिर समाज का अधःपतन तो होने ही वाला है, फिर समाज में अनीति और अनाचार तो फैलने ही वाला है।

आज शिक्षा क्षेत्र के सामने अगर सबसे बड़ी चुनौती है तो धर्मसत्ता का प्रतिनिधि बन कर अर्थसत्ता और राज्यसत्ता के मार्गदर्शन करने की स्थिति में आना। अगर हम समाज का भला चाहते हैं, अगर हम छात्रों का भला चाहते हैं, अगर हम यह सारी दुनिया ठीक चले ऐसा चाहते हैं तो फिर हमे यह तो प्रथम विचार करना ही पड़ेगा कि हम ज्ञान को बड़ा कैसे बनायें। बड़ा बनने के साथ दायित्व आता है। भारत का विचार ऐसा रहा है कि जो बड़ा है उसका दायित्व बड़ा होता है अधिकार बड़ा नहीं होता। इस संदर्भ में भारतीय और अभारतीय दृष्टि और विचारधारा का थोड़ा विचार करना चाहिए।

इस सृष्टि की रचना जब भगवान करने लगे उस सन्दर्भ में भारतीय

और अभारतीय दोनों जो कथायें हैं वह आधे तक समान चलती हैं। भगवान इस सृष्टि की रचना करने लगे तो पंच महाभूत बनाये, वृक्ष वनस्पति का निर्माण किये, पशु-पछी प्राणी, कीट-पतंग सब बनाये, लेकिन भगवान का मन नहीं भरा। उन्हें लगा कि अभी कुछ अच्छा चाहिए। अंत में जाकर उन्होंने मनुष्य को बनाया। मनुष्य को बनाने के बाद भगवान अपने ऊपर ही खुश हो गये कि अब ठीक है, मेरा यह सर्वश्रेष्ठ सृजन है। भगवान अपने ऊपर भी खुश हो गये, मनुष्य के ऊपर भी खुश हो गये। अब दोनों विचारधारायें यहां से अलग होती हैं। दोनों विचारधाराओं में मनुष्य ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ सृजन है यह तो स्वीकार्य है, परन्तु अभारतीय भगवान ने मनुष्य को बुला कर कहा देखों तुम इस सृष्टि में मेरा सर्वश्रेष्ठ सृजन हो, यह सारी सृष्टि तुम्हारी उपभोग के लिए है। तुम इसका भोग करो और खुश रहो, मजा करो, इसलिए अभारतीय मनुष्य और मानस यह सोचने लगा कि मुझे तो भगवान ने ही कहा है कि मैं प्रकृति का, पशु-पछियों का, दूसरे मनुष्यों का, सबका अपने लिए उपयोग कर सकता हूं, मार सकता हूं। यदि प्राणियों को मार कर मुझे उनकी चमड़ी से कोट पहनना है तो कर सकता हूं, इसमें हिंसा नहीं है, क्योंकि भगवान ने ही कहा है। मुझे अगर पंच महाभूतों का शोषण करना है तो कर सकता हूं। मुझे प्राणियों को मार कर कास्मेटिक्स बनाना है तो बना सकता हूं। अपराध बोध नहीं है, क्योंकि यह सब मेरे लिए ही तो बने हैं। भगवान ने पहले मेरे सुख के लिए सारी सृष्टि बनाई और फिर मुझे बनाया है और भगवान ने बताया है कि सबका उपयोग कर लेना यह न्यायोचित है। संसाधन के रूप में सबका उपयोग करना यह न्यायोचित हो गया कोई अपराध नहीं रहा।

भारत के भगवान ने मनुष्य को बुलाया और कहा मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूं, तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ सृजन हो, मेरे प्रतिरूप हो, मैने तुमको बनाया है, तुम सबसे बड़े हो, इसलिए तुमसे जो भी छोटे हैं उन सबका रक्षण और पोषण करने का दायित्व तुम्हारा है। यानी कि तुम अपने सुख के लिए किसी को मार नहीं सकते, अपने सुख के लिए किसी का दुरूपयोग नहीं कर सकते, बड़े हो इसलिए छोटों का रक्षण करना, पोषण करना तुम्हारी जिम्मेदारी बनती है। बड़ा होने के साथ अधिकार नहीं कर्तव्य, दायित्व और त्याग यह जुड़ा हुआ है भारतीय चिन्तन में और बड़ा होने के साथ अधिकार जुड़ा हुआ है अभारतीय चिन्तन में।

आज हम जितने भी विषयों में, जितने भी दृष्टिकोण से, जो-जो भी सिखाते हैं, उसमें बड़ों का अधिकार पहला अधिकार यह सूत्र रेखांकित हो गया है और जहाँ अधिकार रहता है बड़ों के साथ वहां सब बड़ा होना चाहते हैं, सब अधिकार चाहते हैं। जब सब अधिकार चाहते हैं तब संघर्ष होता ही है, संघर्ष से हिंसा होती है, हिंसा से विनाश होता है, सुख नहीं रहता। जहां ऐसा संघर्ष रहता है वहां उत्कर्ष नहीं होता, किसी भी काम में उत्कृष्टता नहीं होती, गुणवत्ता नहीं होती, प्रेम नहीं होता, त्याग नहीं होता, सेवा नहीं होती, इसलिए कल्याण भी नहीं होता। यह सब एक के साथ एक जुड़े हुए हैं, इसलिए आज भले ही हम वैश्विकता की बातें करें तो भी विश्व को भारत की दृष्टि से देखना और विश्व के साथ भारतीय विचार से व्यवहार करना यह हमारी शिक्षा का रेखांकित सूत्र होना चाहिए। तभी शिक्षा हमारा भी और दूसरों का भी भला करेगी। अभी ऐसा नहीं है। ऐसा क्यों नहीं है इसका भी इतिहास है।

हमारी शिक्षा पद्धति को अंग्रेजों ने सभी प्रकार से नष्ट कर दिया और अपनी शिक्षा पद्धति को थोप दिया और वही चलाया। उन्होंने तीन बातें मुख्य रूप से कीं। सबसे पहले उन्होंने शिक्षा को राज्य के अधीन कर दिया। मैं वेदकाल की बात नहीं कर रही हूँ, मैं पुराणकाल की बात नहीं कर रही हूँ, मै तक्षशिला, नालंदा के काल की भी बात नहीं कर रही हूँ। मैं 18वीं शताब्दी के अंत तक की बात कर रही हूँ। अधिकांश लोग जो यहाँ बैठे हुए हैं जानते ही होंगे कि धर्मपाल जी ने दस्तावेजों के सहारे बताया है कि 18वीं शताब्दी में भारत में 5 लाख की संख्या में प्राथमिक विद्यालय थे और शिक्षा आज सर्वशिक्षा अभियान के तहत जितनी व्यापक है उससे कहीं ज्यादा व्यापाक थी। अंग्रेजों ने सबसे पहला कार्य क्या किया और उसे याद क्यों करना चाहिए, क्योंकि आज भी वैसा ही चल रहा है। अंग्रेजों ने सबसे पहले शिक्षकों के आधार पर चलने वाले सभी विद्यालय चाहे वे प्राथमिक हों या महाविद्यालय हों उन सबको बन्द करके स्वयं के अधीन कर लिया, स्वयं के नियंत्रण में कर लिया। सभी विद्यालय शासन संचालित, शासन नियंत्रित हो गये, यह पहली बात हुई।

दूसरी बात हुई भारत में विद्या बेचने की चीज नहीं थी, पैसा नहीं लगता था, भारत में शुल्क नहीं लिया जाता था, गुरुदक्षिणा चलती थी। अंग्रेजों ने एक

ऐसी सार्वत्रिक धारणा प्रसारित की कि जिस शिक्षा का शुल्क नहीं देना पड़ता, जो मुफ्त में है वह बेकार है। वह इतना बेकार है कि इसका पैसा कोई देने के लिए तैयार ही नहीं होता। उनको समझ में ही नहीं आता था कि मूल्यवान चीजों का पैसे से भारत में मूल्यांकन नहीं किया जाता। वह मूल्यवान है इसलिए उसका पैसे में शुल्क नहीं है, यह तो समझ में ही नहीं आता। उनको शिक्षा नष्ट करनी थी, इसलिए उन्होंने सारा का सारा अर्थ सापेक्ष, अर्थ नियंत्रित किया।

तीसरा कार्य जो उन्होंने किया वह भारतीय ज्ञानधारा के स्थान पर यूरोपीय ज्ञानधारा सार्वत्रिक कर दिया। कक्षा एक से यूरोपीय ज्ञानधारा शुरू कर दी और धीरे-धीरे उसमें पढ़े हुए लोगों के मन मस्तिष्क में यह विचारधारा ऐसी बैठ गई कि धीरे-धीरे काव्य रचना भी वैसी ही होने लगी, कहानियों की रचना भी वैसी ही होने लगी, उपन्यासों की रचना भी वैसी ही होने लगी। 20वीं शताब्दी के एक गुजराती कवि की पंक्तियां बताती हूं "कवि कहता है कि अंग्रेजों को यहां भेजकर भगवान ने हमारे ऊपर बहुत उपकार किया है। बकरी भी जाती है तो उसका कोई कान नहीं पकड़ता है इतनी सुरक्षा हो गई है (ए उपकार दयी ई वर नो) ईश्वर का हमारे ऊपर इतना उपकार है, (हरक रहे तू हिन्दुस्तान) हिन्दुस्तान तुमको तो खुशी मनानी चाहिए कि भगवान ने अंग्रेजों को हमारे यहां भेजा जिससे हमारा बकरी जैसा बेचारा प्राणी भी सुरक्षित है। यह रिफलेक्शन किसका है? यह पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से बचपन से जो विचारधारा प्रस्थापित हो गई उसके कारण है। यही सोच 1947 के बाद भी चल रही है। ये तीन जो इसके आयाम हैं इन तीनों में से एक में भी बदलाव नहीं हुआ है। शिक्षा शासन के नियंत्रण में, रेगुलेशन में, उसकी नीतियों के तहत ही चलती है।

भारत की आज की सभी यूनिवर्सिटीज आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज के मॉडल पर बनी हैं। 1858 में अंग्रेजों ने यहां तीन यूनिवर्सिटी शुरू की मुम्बई यूनिवर्सिटी, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, मद्रास यूनिवर्सिटी। अंग्रेजों ने शिक्षा के विषय में देश भर में सवा सौ वर्ष के काल में जितना भी कार्य किया यानी अंग्रेजों द्वारा भारत में शिक्षा को प्रस्थापित करने का प्रयास 1773 से शुरू हो कर 1857 तक इतना फैल गया, प्रतिष्ठित हो गया कि उन सब को

कोआर्डिनेट करने के लिए उनको समन्वित करने के लिए उन्होंने तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की। वे विश्वविद्यालय एडमिनिस्ट्रेटिव सेन्टर थे, अध्यापन तो बाद में प्रारम्भ हुआ। 1857 में मुहर लग गई और पूरी ब्रिटिश शिक्षा स्थापित हो गई उसके बाद 1866 से भारत में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयास शुरू हुए। राजनारायण बसु, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्र पाल, और लाला लाजपत राय, निवेदिता बहुत सारे नाम हैं जिन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयास शुरू किये। ये सारे के सारे स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले शुरू हुए थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ये प्रयास आगे नहीं चले। यूनिवर्सिटी माडल वैसा का वैसा स्वीकार करके, अभारतीय ज्ञानधारा को आधुनिक ज्ञानधारा समझ कर आधुनिकता के नाम पर और दूसरा वैश्विकरण के नाम पर उसी प्रकार सब कुछ चल रहा है। अभी भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी हमारे माध्यम से वही अर्थशास्त्र पढ़ा रही है, वही समाजशास्त्र पढ़ा रही है, जिसमें सोशल कान्ट्रैक्ट के आधार पर समाज रचना होती है और विवाह भी एग्रीमेन्ट है। यह एग्रीमेंट कल्चर भारत का नहीं है। भारत में विवाह संस्कार है और संस्कार का आधार आत्मीयता है। आत्मीयता का भावात्मक पक्ष प्रेम होता है, प्रेम का क्रियात्मक पक्ष त्याग और सेवा होता है और दूसरों के लिए कष्ट उठाना होता है तथा कितने लोगों को मेरे कारण से सुख मिलेगा ऐसा विचार होता है। त्याग और सेवा के व्यवहार में जहां दूसरों के लिए कष्ट करके, दूसरों को अपने से पहले देकर तथा स्वयं उपभोग न करके दूसरों को दे देने से अधिक आनन्द होता है। यह त्याग, सेवा और कष्ट का आधार मजबूरी नहीं आनन्द होता है। ईशावाश्योपनिषद् इसके लिए कहता है 'तेन त्यक्तेन भुंजीथः' त्याग पूर्वक भोग करो। आज यह संस्कार नहीं चलता, यह सिद्धान्त परिवार जीवन में नहीं चलता, विचार में नहीं चलता, व्यापार में नहीं चलता।

भारत में व्यापार भी परिवार भावना से चलता था, बाजार भी परिवार भावना से चलता था। मार्केट की गुडविल अच्छाई के आधार पर बनती थी। व्यापारी ऐसा कहता था कि मेरी दुकान से कोई गंवार भी, छोटा बच्चा भी, अंधा भी, गलती से भी कोई गलत चीज ले गया तो मुझे शर्म आनी चाहिए और वो कभी भी मैं बदल कर दूंगा। यह दुकानदार की गुडविल थी। ग्राहक और

दूकानदार, मालिक और नौकर, राजा और प्रजा, अफसर और कर्मचारी पिता-पुत्र के सम्बन्ध से जुड़े थे, यह एक परिवार था। राजा भी प्रजा का पालक था, इसलिए पिता था। पूरा समाज परिवार भावना से चलता था। भारतीय सम्बन्धों का आधार संस्कार है,एग्रिमेन्ट नहीं है। जहां पति-पत्नी भी एग्रीमेंट से जुड़ेंगे तो एग्रीमेंट करने के लिए साक्षी के रूप में किसी का हस्ताक्षर चाहिए तब पति-पत्नी एक होंगे कैसे? जबकि विवाह तो पति-पत्नी की एकात्मता की साधना है और यह एकात्मता के विस्तार के रूप में वसुधैव कुटुम्बकम तक जाती है। एग्रीमेंट के द्वारा यह संभव ही नहीं होगा और जहां यह संभव नहीं है वहां चिरंजीविता नहीं है। हम जानते हैं इतिहास प्रमाण है कि भारत चिरंजीवी है। भारत विश्व की सभी संस्कृतियों में सबसे लम्बी आयु वाला है। दुनिया में अनेक संस्कृतियाँ जन्मी भारत उनसे भी पहले था। वे काल के प्रवाह में लुप्त हो गईं उसके बाद भी भारत तो भारत है। केवल दूसरी एक संस्कृति भारत का मुकाबला कर सकती है प्राचीनता के रूप में दीर्घायु के रूप में वह है चीन की संस्कृति, परन्तु चीन में भी साम्यवाद का उदय हुआ तो चीन भी ताओ, कन्फ्यूसियस के चीन की जगह कम्युनिस्ट चीन बन गया। कम्युनिजम भी गया दुनिया से तो फिर से चीन गौतमबुद्ध और ताओ का नहीं अमेरिकन चीन हो गया और आज अमेरिका के साथ स्पर्धा कर रहा है। केवल भारत ही है जो सभी संस्कृतियों से पहले भी भारत था और आज भी है और उस समय जिस श्रद्धा से गायत्री मंत्र का उच्चारण करता था उसी श्रद्धा से आज भी कर रहा है। यह चिरंजीविता कहां से आयी? यह चिरंजीविता जो संस्कार के आधार पर, प्रेम के आधार पर, आत्मीयता के आधार पर, सेवा और त्याग के आधार पर, न केवल पति-पत्नी, न केवल माता-पिता और संताने बल्कि पूरे समाज व्यवस्था की रचना बनाई गई थी और उसी आधार पर नीतियां बनाई थी इसलिए यह चिरंजीविता सम्भव हो पायी।

1947 के बाद भारत के नेतृत्व ने कहा कि देश सादगी, ग्रामीणीकरण और यह सब जो गांधी के द्वारा आदर्श रखे गये हैं उसके आधार पर नहीं चलेगा। भारत को पश्चिम की तरफ देखना पड़ेगा, भारत को आधुनिकता पर विचार करना पड़ेगा, भारत को औद्योगिक क्रान्ति के सन्दर्भ में विचार करना पड़ेगा। आज भी विकास का रास्ता तो वही है, हमें उस पर पुनर्विचार करने की

बहुत आवश्यकता है। इस पुनर्विचार का प्रारम्भ विश्वविद्यालयों से ही होना अनिवार्य है, क्योंकि ज्ञान से ही सही दिशायें बनती हैं और सही दिशायें स्थापित होती हैं, इसलिए इन तत्वों पर हमें पुनर्विचार करना है।

भारत में यह सिद्धांत और तत्त्वज्ञान कहां से आया? भारतीय सारी व्यवस्थायें और सारी नीतियां, यह सारा व्यवहार, जिन्हें अनपढ़ भी समझता है यह सब कहां से आया? एकात्म इस शब्द में आत्मा यह शब्द निहित है। केवल भारत विश्व में आत्मा की संकल्पना के आधार पर विचार करता है, इसलिए अगर विश्व की विचारधाराओं को अगर हम दो हिस्सों में बांटेंगे तो एक आत्मवादी विचार है और दूसरा अनात्मवादी विचार है। भारत का विचार आत्मवादी विचार है। आत्मा से शब्द बना है आत्मीयता, आत्मीयता से व्यवहार होता है अपनेपन का। अभी मैने बताया त्याग, सेवा, प्रेम यही सब आधार होते है अपनत्व के, इसलिए हमारी सारी व्यवस्थायें मूल सूत्र लेकर चलती हैं कि चराचर में परमात्म तत्व का वास है, इसलिए सभी प्राणियों के साथ वैसे ही व्यवहार करो जैसे वे आत्मतत्व के ही आविष्कार हैं। वृक्ष वनस्पति के साथ वैसे ही पेश आओं जैसे उसमें परमात्म तत्व का ही वास है। वह भी परमात्मा का अंश उतना ही हैं जितना हम हैं, इसलिए भारत के सभी व्यवहारों में, सभी जड़-चेतन पदार्थों की स्वतंत्रता के साथ एक नीति का सम्मान करना सिखाया गया। वह पाठ्यपुस्तकों में भी सिखाया जाता था, व्यवहार में भी सिखाया जाता था, संस्कार भी उसके दिये जाते थे ऐसी सार्वत्रिक उसकी व्यवस्था थी।

एक बहुत सामान्य सा उदाहरण मैं देना चाहती हूँ - हमारे एक संघचालक जी जो इंजीनियर थे और बड़ी कम्पनी में काम करते थे। एक बार उनके कारखाने में जर्मनी से मशीनरी आयी और बताने वाला व्यक्ति भी आया, उसने सारी मशीनरी सेट कर दी यहां के लोगों को सिखा दिया और गया। पाँच-छः महीने के बाद एक मशीन बन्द पड़ गयी। यहां के इंजीनियरों ने बहुत प्रयास कर लिए, लेकिन फाल्ट समझ में नहीं आता था। एक सामान्य साधारण मकैनिक देख रहा था, उसने कहा मैं प्रयास करके देखूं। अब सब इंजीनियरों की नाक चढ़ गई, हम फेल हो गये तो यह मैकेनिक क्या करेगा। लेकिन अब जर्मनी से जानकार बुलाना पड़ेगा यहां तक नौबत आ गयी थी,

इसलिए सबने कहा तुम भी प्रयास कर लो। उसने कुछ किया और पांच मिनट में मशीन चालू हो गई। सब आश्चर्य में पड़ गये और पूछा, तुमको फाल्ट कहां है कैसे पता चला? उसने सादा सा उत्तर दिया मशीन मेरे साथ बात करती है। मशीन ने ही बताया कि फाल्ट कहां है और यह सत्य घटना है यह कल्पना की बात नहीं है। हमारा शिक्षाशास्त्र, हमारे अध्ययन प्रक्रिया का जो शास्त्र है वह कहता है कि आप अगर पदार्थ के साथ, व्यक्ति के साथ, विचार के साथ, घटना के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं, आप एक हो जाते हैं तो वह स्वयं अपना रहस्य हमारे समक्ष प्रकट करता है। यह बेसिक सिद्धान्त है ज्ञानार्जन का भी और व्यवहार का भी कि तादात्म्य का अनुभव करो। हमारी शिक्षा पद्धति में भी अध्ययन कैसे करना इसके सिद्धान्त आते हैं। उपनिषद् कहता है 'आत्मावारे श्रोतव्यो दृष्टव्यो मन्तव्यो निद्धिध्यासितव्यम्' उसके साथ एकता स्थापित करो, तादात्म्य स्थापित करो। भाष्य कहता है 'श्रवण, मनन, निद्धिध्यासन' श्रवण माने ज्ञानेन्द्रियों से शिक्षा ग्रहण करना, मनन माने अंतःकरण से उसके ऊपर विचार करना, चिन्तन करना और निद्धिध्यासन माने उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना, यह ज्ञानार्जन के चरण हैं। भाष्य कहता है ''श्रवणात् दशगुणं मननं' श्रवण से जो ज्ञान मिलता है उससे दस गुना अधिक प्रभावी मनन से होता है। अतः मनन करो, चिन्तन करो। 'मननात् सहस्त्र गुणं निद्धिध्यासनम्' मनन से भी निद्धिध्यासन हजार गुना अधिक प्रभावी है। तादात्म्य का अनुभव कर जब आप समाज में जाते हैं तो अनन्त गुना ज्ञानार्जन होता है।

ये केवल उपनिषद् की बात नहीं है। मैं उन्नीसवीं शताब्दी का उदाहरण देती हूं। मैंने एक पैराग्राफ पढ़ा जो श्री अरविन्द का था। उन पांच-छः पंक्तियों में लिखा था ''जब किसी विचार को तुम समझ नहीं पा रहे हो कठिन लगता है तो विचार करना छोड़ दो, समझने का प्रयास भी छोड़ दो, एकात्म बन जाओ केवल उसी में ध्यान केन्द्रित करो, एक बार पढ़ो, पांच बार पढ़ो, दस बार पढ़ो, पढ़ते रहो, पढ़ते समय विचार मत करो, पढ़ते समय समझने का प्रयास मत करो और एक समय में वह विचार अपने आप तुम्हारे सामने प्रकट हो जायेगा।'' आज कल छात्रों को बहुत बातें कठिन लगती हैं, कोई नया विचार, हमको भी कठिन लगता है। श्री अरविन्द ने जो लिखा यह ज्ञानार्जन क्लिक होना जिसे कहते हैं

वह लर्निंग सिस्टम है। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया है और हमारे माध्यमिक विद्यालयों में महाविद्यालयों में इसके आधार पर ज्ञानार्जन की शिक्षा की योजना बनना अपेक्षित है।

दूसरा मैं एक छोटे बच्चे का उदाहरण देती हूं। एक चार-पांच वर्ष का बेटा और मां दोनों घर में अकेले थे। एक दिन पहले बहुत हवा चली थी इसलिए कम्पाउण्ड में नारियल के पेड़ से छोटे-छोटे नारियल गिरे थे। बच्चे को खेलना था, लेकिन मां बच्चे को बाहर कड़ी धूप में जाने नहीं देना चाहती थी। तो दोनों ने मिलकर वो छोटे-छोटे नारियल इकट्ठे किये और घर में लाये। मां ने कहा कि यह नारियल गिनों कितने हैं। उसने गिना तो सोलह थे। मां बैंक में कार्यरत थी, परन्तु स्वभाव शिक्षक का रहा होगा। अब मां ने कहा कि नारियलों की दो पंक्तियों में रचना करो और दोनों में समान आना चाहिए। बालक को मालूम नहीं था क्या करना है, इसलिए उसने पहली पंक्ति शुरू कर दी और ग्यारह नारियल रख दिये। अब बाकी बचे पांच दूसरी पंक्ति में रख दिये। मां ने कहा गिनो समान तो नहीं हुए। उसने अनेक बार प्रयत्न किये लेकिन आठ-आठ नहीं हुए। इसलिए मां ने क्लू दिया, ऐसा करो पहली पंक्ति में एक रखो, दूसरी पंक्ति में एक रखों, दूसरी पंक्ति में एक रखो फिर पहली पंक्ति में दूसरा रखो। इस प्रकार किया तो आठ-आठ हो गये। अब मां ने कहा तीन बराबर-बराबर करो। प्रक्रिया तो उसने वही लागू किया लेकिन हो नहीं रहा था। मां ने फिर कहा चार बराबर-बराबर करो। उसने उसी युक्ति से चार बराबर-बराबर कर दिये। दो-तीन बार दोहराया पहली पंक्ति मे चार थे, दूसरी पंक्ति में चार थे, तीसरी में चार थे, चौथी में चार थे। मां ने पूछा कितनी पंक्तियां हैं? उसने कहा चार। प्रत्येक पंक्ति में कितने नारियल हैं? चार। ऐसा करते-करते तीन बार गिना तो वह एकदम खड़ा हो गया और जोर से चिल्लाया- चौकू-चौकू सोलह। यह क्या है? चार का पहाड़ा। चार का पहाड़ा चार गुना चार सोलह होता है। वह रटा था, लेकिन समझा नहीं था। लेकिन यह क्या हुआ दर्शन हुआ, अनुभूति हुई कि अरे हां, हम चौकू-चौकू सोलह जो रट रहे थे वह ये है। ऐसे होता है चौकू-चौकू सोलह। उसे किसने सिखाया, कैसे सीखा? यह उसी की अन्दर से अनुभूति थी।

इसको कहते हैं अनुभूत ज्ञान, यह क्लिक होता है, यह आनन्द होता है।

आइन्स्टाइन ने जब कहा था रिवेका-रिवेका तो वह रियलाइज हुआ था, इसलिए दक्षिणा-मूर्तिस्तोत्र में लिखते हैं "विचित्रं वट तरूमूले वृद्धाः शिष्या, गुरुर्युवा गुरुस्तु मौनंव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशया"। कैसा आश्चर्य है वट वृक्ष के नीचे गुरु और शिष्य बैठे हैं। अध्ययन-अध्यापन चल रहा है। शिष्य वृद्ध हैं और गुरु युवा हैं। गुरु मौन हैं लेकिन शिष्यों के सारे संशय समाप्त हो गये। यह क्या है? अन्दर से ज्ञान का आदान-प्रदान। यहां तक भारत गया है, यहां तक भारत जा सकता है। यह सारा कक्षा कक्ष में आज भी घटित हो सकता है, 21वीं शताब्दी में भी हो सकता है। अध्यापक और अध्येता ऐसे चाहिए। ऐसे अध्यापक और अध्येता तथा ऐसी अध्ययन प्रक्रिया से भारतीय ज्ञानधारा के आधार पर जो ज्ञान का आदान-प्रदान होता है वही शिक्षा व्यक्ति का, समाज का, देश का, विश्व का कल्याण करती है। यह जो आत्मतत्व के आधार पर सारी शिक्षा की रचना है यह भारत की विशेषता है, यह भारत का भारतीयपना है।

दूसरा बिन्दु है अध्ययन और अध्यापन में अध्ययन प्रमुख है। अध्यापन, अध्ययन का अनुसरण करता है। तैत्तरीय उपनिषद् में समीकरण आते हैं 'आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनँसंधानम्।' शिक्षा उसी को कहते हैं जो पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले के बीच में आदान-प्रदान होता है। तो आचार्य और छात्र का सम्बन्ध कैसा है? उन्होंने उदारहण देकर बताया कि जिस प्रकार भाषा में सन्धि होती है, जैसे गणेश शब्द है, वह दो शब्दों का बना हुआ है। गण और ईश, लेकिन गण का अ और ईश का ई यह दो शब्द जो हैं उनकी सन्धि होकर तीसरा शब्द बनता है गणेश। अब यह दो शब्द नहीं रहे यह एक शब्द बन जाता है। गण पूर्व रूप है आचार्य पूर्व रूप है, ईश उत्तर रूप है अंतेवासी शिष्य उत्तर रूप है। दोनों की सन्धि, प्रवचन अर्थात अध्ययन-अध्यापन से दोनों मिलते हैं और परिणाम उसकी विद्या है। किसका परिणाम विद्या है? आचार्य और छात्र के आत्मीय सम्बंध का परिणाम विद्या है। कोई भी परिस्थिति हो आचार्य और छात्र का आत्मीय संबन्ध आवश्यक है। शिष्य यदि अध्यापक का मानस पुत्र नहीं हुआ, उनके बीच में आत्मिक संबन्ध नही बने तो निष्पन्न ज्ञान नहीं होता और कुछ होता है। आज इस ज्ञान को छोड़ कर और कुछ ही

उत्पन्न हो रहा है। इसलिए कैसी भी परिस्थिति हो हमें आचार्य और छात्र के आत्मीय सम्बन्ध पर विचार करना पड़ेगा। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। शिष्यों को आचार्यों के प्रति आदर, विनय, सेवा और आज्ञा पालन करना पड़ेगा। भगवद्गीता में कहा है 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' सेवा करो, जिज्ञासा से प्रश्न पूछो और प्रणीपात करो अर्थात् सभी प्रकार से आदर दर्शाओ।

प्रथम आदर और दूसरा चरित्र कैसा होना चाहिए, जिसके विषय में कहा गया है "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'। छात्रों में यदि इन्द्रिय संयम नहीं है तो ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। श्रद्धा नहीं है तो ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तत्परता अर्थात् जब भी आचार्य कहें तब पढ़ने के लिए तैयार, विद्याध्ययन करने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं है तो ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आज हम देखते हैं कोई श्रद्धा नहीं है, तत्परता नहीं है, विनय नहीं है, जिज्ञासा नहीं है, परिप्रश्न नहीं है, सेवा नहीं है, तो फिर जो मिला वह ज्ञान को छोड़कर और कुछ होगा। किसी भी बात को कुछ भी कह देना नामकरण कर देना इसे कौन रोकता है। जो ज्ञान नहीं है उसको ज्ञान कहने से कौन मना करेगा। जैसे राष्ट्रीय-राष्ट्रीय शब्द तो बोल दिया लेकिन वह राष्ट्रीय होता ही है यह आवश्यक नहीं है। उसी प्रकार हम ज्ञान-ज्ञान करेंगे और वह ज्ञान होगा ही ऐसा तो नहीं है। आज के संदर्भ में चार प्रकार के शिक्षक होते हैं। एक होते है विषय के शिक्षक। यह तो हमें मालूम है हमें भूगोल पढ़ाते हैं, अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं, विज्ञान पढ़ाते हैं, भाषा पढ़ाते हैं। दूसरे होते हैं छात्रों के शिक्षक। मेरे छात्र की क्या कठिनाई है उसका विकास कैसे हो रहा है उन्हें यह चिंता का विषय बनता है, लेकिन आज यह नहीं होता, क्यों होगा जब एग्रीमेंट के सम्बन्ध हैं तो भावना ही नहीं होगी यह स्वाभाविक है। तीसरा होता है राष्ट्रीय शिक्षक, इस देश की जीवन दृष्टि क्या है, इस देश की परंपरा क्या है, इस देश के संस्कार क्या हैं, यह मेरी नीति है कि नहीं, राष्ट्र के नाते मैं भारत को जानता हूँ कि नहीं, राष्ट्र के नाते इस देश की परंपरा क्या है यह जानता हूं कि नहीं, वह अपने विषय के माध्यम से मैं दे पा रहा हूँ कि नहीं, इसका विचार करने वाला राष्ट्रीय शिक्षक होता है। चौथे

प्रकार के शिक्षक होते हैं वेतन के शिक्षक। उनकी सोच होती है कि हमें इतना ही वेतन मिलता है तो हम इससे अधिक कैसे पढ़ायें। दो प्रकार के शिक्षक तो मिलते हैं, विषय के शिक्षक भी हैं और वेतन के शिक्षक परन्तु छात्रों के शिक्षक और राष्ट्रीय शिक्षक जब तक नहीं बनेंगे तब तक शिक्षा भारतीय नहीं बनेगी। जब तक आचार्य के प्रति अत्यांतिक आदर की भावना से युक्त विनयशील, सेवा करने के लिए तत्पर, श्रद्धावान, और संयमित जीवन जीने वाले छात्र नहीं होंगे तब तक भी शिक्षा भारतीय नहीं होगी। भारतीय शिक्षा के लिए यह दोनो अनिवार्य हैं। इनको छोड़कर किसी भी प्रकार की अच्छी शिक्षा की कल्पना हम नहीं कर सकते। यह कैसे सम्भव हो सकेगा, यह हमारे लिए विचारणीय विषय तो है ही और चिन्ता का भी विषय है।

चौथा मुद्दा हमारे सामने चुनौतियों का है। शिक्षा स्वायत्त नहीं है और बहुत जल्दी होने वाली भी नही है, कम प्रयासों से भी होने वाली नहीं है और व्यक्तिगत प्रयासों से तो बिल्कुल भी होने वाली नहीं है। कैसे होगी वह हमें देखना है। दो बातें इसके लिए आवश्यक हैं। पहली बात है शिक्षक को दायित्वबोध होना। यह छात्र, यह ज्ञान और यह समाज और देश हमारे कारण से ऐसा चल रहा है और हमारे कारण से वह अच्छा चलेगा। दायित्वबोध यानी दायित्व को स्वीकार करने की मनःस्थिति आज व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक शिक्षक में जागृत करने की आवश्यकता है। दूसरा इस शिक्षा को स्वायत्त बनाने के लिए सामूहिक प्रयास भी करने पड़ेंगे, क्योंकि ज्ञान की सर्वोपरिता जब तक स्थापित नहीं होगी तब तक देश-दुनिया व्यक्ति, ठीक से चल ही नहीं सकते। पिंजरे के अन्दर रह कर हम कितनी भी अच्छी बातें करें वो अच्छी नहीं होती। जो बात मजबूरी या गुलामी में करनी पड़ती हैं वह मूलतः अच्छी हो ही नहीं सकती। दूसरी चुनौती है शिक्षा का विचार एकान्तिक नहीं हो सकता। कम से कम समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था इन तीन बातों के सन्दर्भ में ही शिक्षा का विचार करना पड़ता है। अर्थ-व्यवस्था नहीं बदली, समाज व्यवस्था नहीं बदली और राज्य व्यवस्था नहीं बदली तो शिक्षा में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन अर्थव्यवस्था को, राज्य व्यवस्था को, समाज व्यवस्था को बदलेगा कौन? इसका दायित्व समाजशास्त्र के

अध्यापकों को लेना पड़ेगा। यूनिवर्सिटीज के बोर्ड ऑफ स्टडीज में विचार करना पड़ेगा। सिद्धान्त, आईडियोलॉजी, जानकारी इन सबके विषय में विचार करना पड़ेगा, यह हमारा दायित्व है। अर्थशास्त्र के अध्यापकों को दो सूत्र की तुलना को सामने रख कर फिर विचार करना पड़ेगा। एक तो मैने कहा था - Economics has nothing to do with ethics के इम्प्लिकेशन्स क्या हैं और दूसरा है भारतीय विचार-अर्थशास्त्रात् तु बलवत धर्मशास्त्रे स्मृतः। 'अर्थशास्त्र से भी धर्मशास्त्र बलवान है। अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन ही होना चाहिए। हम अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन बनाने के लिए क्या-क्या कर सकते हैं इसका चिन्तन करने की जिम्मेदारी अर्थशास्त्र के बोर्ड ऑफ स्टडीज से शुरू होती है, अर्थशास्त्र पढ़ाने वालों से शुरू होती है, अर्थशास्त्र पढ़ने वाले तक पहुंचती है और अर्थशास्त्र में शोध करने वाले तक यह जाती है। सब लोग मिल करके यह करेंगे तो आज नहीं तो पच्चीस वर्ष में यह कार्य हो सकता है।

ऐसे लोगों को द्विधा मनःस्थिति में रहना पड़ेगा। मानसिक वैचारिक संघर्ष होगा कि वे परीक्षा के लिए पढ़ा रहे हैं? Economics has nothing to do with ethics, लेकिन अपनी बुद्धि और मन में जानते हैं 'अर्थशास्त्रात् तु बलवत धर्मशास्त्रे स्मृतः। वे जो जानते हैं और जो कहते हैं इन दोनों में विरोध है। यह समझकर कि जो गलत है वह करना मजबूरी है और जो सही है वह कैसे कब हम कर सकेंगे इसकी कुछ योजना बनाना, ऐसे दोनों काम हमें स्वयं करने ही पड़ेंगे।

शिक्षकों के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग होता है। आचार्यों को गुरु की उपाधि मिली है, गुरु का सम्मान होता है और गुरु सबसे बड़ा माना जाता है। बड़ों को किसी के आगे रोनारोने का अधिकार नहीं होता है। गुरु के आगे सारे रोना रोयेंगे, गुरु के आगे सब अपनी अपनी शिकायतें करेंगे। गुरु किसके सामने कहेगा? जिस दिन वह दूसरे को जिम्मेदार ठहरायेगा, जिस दिन वह दूसरे के सामने रोना रोयेगा, उस दिन वह गुरु नहीं रहेगा, फिर उसका सम्मान नहीं रहेगा, इसलिए किस नीति और योजना से हमको चलना पड़ेगा इसके लिए अध्ययन करना पड़ेगा। अध्ययन करने के लिए हमारे पास सामग्री तो बहुत उपलब्ध है,

परन्तु आज की शिक्षा में वह अप्रासंगिक है, उसका कहीं संदर्भ के नाते उपयोग ही नहीं है। उन्हें अप्राप्य दुर्लभ पुस्तकें मानकर किन्ही ग्रन्थालयों में रख दिया जाता है, जिसकी कभी संदर्भ सूची भी नहीं बनती, क्योंकि शोध नहीं लिखे जाते, पाठ्यक्रम नहीं बनते, इसलिए संदर्भ के नाते इन पुस्तकों की ग्रन्थों की सूची भी नहीं बनती, अतः हमें लगता है कि सामग्री नहीं है।

सामग्री है बहुत कुछ लिखा गया है। मैं प्राचीन काल की बात नहीं कर रही हूं। आज से सौ वर्ष पूर्व के भी यदि आप ग्रंथों की सूची देखेंगे तो ध्यान में आयेगा कि सौ वर्ष पहले विशेष रूप से सामाजिक शास्त्रों में कितना अध्ययन किस सरोकार से, किस चिन्ता से हुआ है। उदाहरण स्वरूप दैशिक शास्त्र को ही ले लीजिए। यह ग्रन्थ 1921 में प्रकाशित हुआ है, बहुत छोटा सा है, परन्तु मूल विचार उसमें है। भारत में अंग्रेजी राज्य यह पुस्तक तो इतिहास के अध्यापकों को मालूम होगी, इसे सबको पढ़ना चाहिए। भारत में अंग्रेजी राज्य 1921 में प्रकाशित हुई, ब्रिटिश सरकार ने उसके ऊपर प्रतिबन्ध लगाया। 1954 में भारत सरकार के सांस्कृतिक विभाग ने इसका पुनः प्रकाशन किया आज इसका पुनर्मुद्रण हुआ है, लेकिन इतिहास के एक भी पाठ्यक्रम में इसका संदर्भग्रन्थ के रूप में स्थान नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का इतिहास ही हमारे पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है। हिन्दू का समाज रचनाशास्त्र बहुत बड़ा वाल्यूम है और बहुत मूल बातों की उसमें तात्विक दृष्टि से चर्चा है। इसमें पाश्चात्य समाज चिंतकों के सैकड़ों ग्रन्थों का संदर्भ लेकर यह विवेचन किया गया है, हिन्दूओं का समाज रचनाशास्त्र, हिन्दू भारतीय विवाहशास्त्र, आदि का विवेचन किया गया है। हिन्दूओं का अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र 1921 में प्रकाशित हुआ है। धर्मपाल जी ने तो बाद में ब्रिटिशों के इकट्ठे किये हुए डाक्यूमेंट के आधार पर ग्रन्थ तैयार किये हैं। ऐसे डाक्यूमेन्ट्स और ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो औपनिषदिक और पारंपरिक चिन्तन के आधार पर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे गये हैं। यह सब डिस्कोर्स हुआ है इस चिंता के साथ कि भारत के युवकों को यह सब पढ़ना चाहिए। इसके आधार पर प्राथमिकशाला की पुस्तकें बनी हुई हैं। सौ वर्ष पहले की कक्षा एक और दो की गुजराती भाषा की पाठ्यपुस्तक मैने देखी, उसके रचयिता का नाम जब मैने पढ़ा तो मुझे आश्चर्य भी हुआ और चिंता

भी हुई। उसके रचयिता का नाम था कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी। संयोग से यह नाम मैने और किसी संदर्भ में भी पढ़ा था। वे उस समय के राज्य के शिक्षा निदेशक थे, अतः उस समय शिक्षा निदेशक जैसे पद का व्यक्ति कक्षा एक की, दो की पाठ्यपुस्तक की रचना करता था। मैं संस्कृत में एम.ए. कर रही थी तो दर्शनशास्त्र उसका एक विभाग था। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पढ़ाते समय हमारे अध्यापक ने बताया था कि उत्तर संदर्भ ग्रन्थ अगर आप को चाहिए तो कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी का ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पढ़िये। यानी ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर ग्रन्थ लिखने वाला शिक्षा निदेशक राज्य की कक्षा एक की पाठ्यपुस्तक तैयार करता था।

आज स्थिति ऐसी है कि रिसर्च कराने वाले पीएच.डी. के गाइड, अथवा मास्टर डिग्री को पढ़ाने वाले या अण्डर ग्रेजुएट को पढ़ाने वाले पाँच, सात, दस वर्ष के बच्चों के लिए कैसी शैली चाहिए नहीं जानते। उनका कहना है कि नहीं भाई हम नहीं लिख सकते, नीचे नहीं उतर सकते। कक्षा एक और दो की चिंता करना यह नीचे उतरना है, हम छोटे हो जायेंगे। प्राथमिक शाला के शिक्षक वे बेचारे कैसे इन सारी बातों के आधार पर पुस्तक तैयार करेंगे। यह जो व्यवहारिक कठिनाई है, इसको कैसे पाटना है इसका विचार यूनिवर्सिटी में होने की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान को सर्वसामान्य लोगों तक पहुंचाना, ज्ञान को नीचे तक पहुंचाना, शिक्षा की श्रेणी में यह दोनों बातें जब तक नहीं होतीं तब तक अनेक कठिनाई होती है। शिशु अवस्था में जो संस्कार होते हैं वे चरित्र के भाग हो जाते हैं। बड़ी आयु में कुछ भी बौद्धिक रूप से हम सीख लें, लेकिन इन संस्कारों के विरुद्ध तब भी नहीं कर सकते। दत्तोपंत जी एक उदाहरण देते थे कि मैं एक सन्त महाराज के सामने बैठा था। उनका एक शिष्य बड़ा अलमस्त और सबको डाटता हुआ घूम रहा था, लेकिन थोड़ी देर में मैने देखा कि वह डर रहा है और कोने में छिप रहा है, क्योंकि वह बिल्ली से डरता था। वह बिल्ली से क्यों डरता था? बचपन में उसके ऊपर ऐसे संस्कार हुए थे, मां और पिताजी हमेशा कहते थे कि चुप रहो नहीं तो बिल्ली आकर ले जायेगी। वो डरने के संस्कार ऐसे हो गये कि वह बड़ी आयु में भी डर रहा था। उस संस्कार के स्तर पर हम यह चिंतन कैसे लायेंगे इसका विचार करना है।

बाल्यकाल में पाँच, सात, दस वर्ष की आयु में आदतें बनती हैं। उस समय यदि आदत विपरीत बनी तो बड़े होने के बाद बुद्धि से कुछ भी सीख लिया तो भी आदत नहीं बदलेगी। ये आदतें क्रियात्मक रूप से सिखानी होती हैं। पर्यावरण में शरीर विज्ञान में और स्वास्थ्य विज्ञान में पढ़ाया जाता है, सीधा बैठना चाहिए। सीधा क्या होता है? समंकायम् शिरोग्रीवं होता है। इससे क्या होता है? तो श्वसन मार्ग दबता नहीं है, इसलिए श्वसन ठीक होता है, अतः सीधे बैठना चाहिए। लेकिन पढ़ाया किसके लिए जाता है? परीक्षा में फिल इन द ब्लैंक्स पूछा जायेगा तो उसको भरने के लिए, इसलिए फिल इन द ब्लैंक्स तो सही होता है और नम्बर भी मिल जाता है, लेकिन जिन्दगी भर टेढ़े ही बैठते हैं और सीधा होने में कष्ट होता है, टेढ़े होने में आराम लगता है। हमारी सबकी यही स्थिति होती है कि सीधा बैठने को कहो तो कमर दर्द करती है, घुटने दर्द करते हैं, कन्धे दर्द करते हैं, टेढ़े बैठने मे आराम मिलता है। जैसी शरीर की स्थिति है वैसी मन की स्थिति है। सीधा होना पड़ता है तो कई प्रकार के कष्ट होते हैं और टेढ़े में सुविधा होती है, आराम होता है। आदतें ऐसे बनती है।

इन सारे विषयों को व्यावहारिक बनाना, जब विद्यार्थी तर्क करने लगता है तब सारे विषयों को उपदेश के रूप में नहीं चर्चा के रूप में लाना। क्यों यन्त्रों से पैदा हुई वस्तु का प्रयोग नहीं करना? क्यों बड़े कारखाने में पैदा हुई चीज का प्रयोग नहीं करना? क्यों कारीगर के हाथ से बनाये हुए जूते और दर्जी के सिले हुए कपड़े पहनना? अगर हम यन्त्रों से बने हुए कपड़े, जूते पहनते हैं, यदि हम रबर, प्लास्टिक के जूते पहनते हैं, यदि हम बड़े कारखानों में बने जूते पहनते हैं तो हम दर्जियों का अपराध कर रहे हैं, हम पर्यावरण का अपराध कर रहे हैं, हम मानवता का अपराध कर रहे हैं। सुविधा तो होगी लेकिन सुविधा किस कीमत पर यह प्रश्न पूछना किशोर अवस्था में सिखाया जाता है। हमारे अर्थ-चिन्तन को, समाज-चिंतन को, राज्य-चिंतन को हाईस्कूल कक्षाओं में चर्चा के रूप में तर्क के रूप में लाना पड़ेगा और इस चिंतन को मूल्यांकन और निष्कर्ष के रूप में महाविद्यालयों में लाना पड़ेगा। शिशु से लेकर युवा अवस्था की शिक्षा का एक क्रम बना कर किसी भी विषय को इन विभिन्न स्वरूपों में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। इसका प्रारम्भ कौन करेगा? इसका प्रारम्भ भी युनिवर्सिटी में

होगा। नीचे के लोगों से अपेक्षा नहीं की जा सकती। बड़ो को छोटों को सिखाना होता है। किसी भी देश की जो भी स्थिति बनती है उसका सारा केन्द्र और स्रोत विश्वविद्यालय होते हैं और विश्वविद्यालय माने विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले अध्यापक और पढ़ने वाले छात्र होते हैं। इस दृष्टि से हमें उच्च शिक्षा के बारे में और सामान्य शिक्षा के बारे में ऐसा विचार करना पड़ेगा।

भारत के ज्ञान क्षेत्र के सामने, विचार क्षेत्र के सामने, शिक्षा क्षेत्र के सामने यह सारी चुनौतियां हैं। भारत का दायित्व इसलिए बनता है, क्योंकि भारत ही युगों से पूरे विश्व का ज्ञान, संस्कार, कला-कारीगरी, हुनर, जीवन-जीने की शैली इन सभी विषयों में मार्गदर्शन करता आ रहा है और आज भी विश्व हमसे यह अपेक्षा करता है। कहते हैं ग्लोबलाईजेशन का जमाना है और पूरी दुनिया छोटी हो गयी है। दुनिया छोटी हो गयी है तो हमें सिखाना आसान होना चाहिए। हम ऐसे ही तो दुनिया में गये हैं। मुझे नया कहने की आवश्यकता नहीं है। पांच सौ वर्ष पहले यूरोप के लोगों के मन में आया हम दुनिया में फैल जायेंगे। उनकी गरीबी, उनकी कठिनाई यही मूल कारण थी। वे निकले, इधर से कोलम्बस निकला, उधर से वास्कोडिगामा निकला। अमेरिका को ही इण्डिया मान लिया और उन्होंने वहीं पर कालोनी बना दी। भारत में भी आये और भारत से आगे दक्षिण एशिया तक भी गये। वे सब जगह फैल गये। जहां-जहां गये वहां-वहां उन्होंने लूट की, विनाश किया, गुलाम बनाया, लोगों को मार दिया। मैं उसके प्रमाण नहीं देना चाहती। धर्मपाल जी की पुस्तकों में उसका प्रमाण हैं। मार दिया, दास बनाया, अत्याचार किया पांच सौ वर्षों में पूरी दुनिया त्राहिमाम करने लगी। आज हम देख रहे हैं दुनिया की क्या स्थिति है। हजारों वर्ष पहले भारत के वीर लोग राजा, महाराजा, कारीगर, व्यापारी, ऋषि पूरी दुनिया में गये इसके भी प्रमाण हैं। दुनिया के सभी देशों में आज भारत के मंदिरों के कलाकारी के अवशेष आज भी मिलते हैं, इसलिए प्रमाण है कि भारत के लोग भी सारी दुनिया में गये। लेकिन किस भावना से गये? हमारे पास ज्ञान है दुनिया को ज्ञान देंगे, हमारे पास संस्कार है दुनिया को संस्कार देंगे, हमें वस्त्र पहनना आता है हम दुनिया को वस्त्र पहनना सिखायेंगे, हमारे पास कला-कारीगरी है हम दुनिया को भी कला-कारीगरी देंगे। हम जिस प्रकार से श्रेष्ठ हैं वैसे दुनिया को श्रेष्ठ बनायेंगे। क्रिन्वंतोविश्वमार्यम के उद्घोष के साथ विश्व को आर्य बनाने के लिए भारत विश्व में गया और दुनिया

को दास बनाने के लिए पश्चिम पूरे विश्व में गया। भारत चिरंजीवी है, जबकि पश्चिम दुनिया को मार कर स्वयं भी मरने की दिशा में जा रहा है, यह अन्तर है। इसे हम आधुनिकता न कहें, इसे हम वैश्विकता न कहें। हमेशा से जो भगवान ने भारत को दायित्व दिया है कि ज्ञान के माध्यम से, संस्कारों के माध्यम से विश्व को अपने ही जैसा श्रेष्ठ बनाओ यह दायित्व पांच हजार वर्ष पहले भी था, आज भी वही दायित्व है। हम सब में इस दायित्व को वहन करने के लिए सामर्थ्य हो ऐसी बुद्धि, शक्ति भगवान सबको दें।

*****

एकात्ममानववाद : विधिक आयाम

प्रो० हरबंश दीक्षित[1]

दीनदयाल उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद पूरे समाज को एक इकाई मानता है। उसके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक या दूसरे उपविभागों के बीच कठोर विभाजन को मान्यता नहीं देता। उनकी मान्यता थी कि अध्ययन में विशेषज्ञता हासिल करने के लिए उसे अलग-अलग समझना तो ठीक है, किन्तु दृष्टि रखने और उसे पूरी तरह समझने के लिए सभी का समग्र रूप से अध्ययन करना जरूरी है। कानूनी व्यवस्था भी उनके लिए पूरी सामाजिक व्यवस्था की एक उपव्यवस्था है, जिसे समझने के लिए समाज की समग्र समझ जरूरी है। इसके साथ ही एकात्म मानववाद केवल पुरातन पन्थी होने या परम्पराओं को पूरी तरह नकारने, दोनों को ठीक नहीं मानता। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक घटनाक्रमों को हम न तो नकार सकते हैं और न ही उसे लेकर बैठे रह सकते हैं। कानून को समझने तथा उसका विश्लेषण करने और उसे बनाने के लिए यह सिद्धान्त एक आदर्श दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है ।

एकात्म मानववाद स्वदेशी विचारधारा पर बल देता है, किन्तु विदेशी परिस्थितियों के अनुभव को नकारता नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार विदेशी परिस्थितियों की जानकारी रखने से हमारी दृष्टि को व्यापकता मिलती है, किन्तु हर देश की अपनी अलग परिस्थिति होती है,

---

[1]प्राचार्य, एम0एच0 (पी0जी0), कॉलेज, मुरादाबाद द्वारा अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर भवन, इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान

इसलिए अपने देश की जरूरतों के मुताबिक नीति बनायी जानी चाहिए।

दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपनी बात को आयुर्वेद के सिद्धान्त "यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम" का उदाहरण देकर स्पष्ट किया था कि हर देश की परिस्थितियाँ दूसरे देशों से समानता रखने के बावजूद कुछ अलग होती हैं, इसलिए दूसरे देशों के अनुभव के साथ ही अपने देश की अलग परिस्थितियों को महत्व दिया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त सरकारी कामकाज के लिए नीति निर्माण हेतु जितना प्रासंगिक है उतना ही विधि निर्माण के लिए भी जरूरी है। संविधान और कानून अपने देश के लोगों की बेहतरी के लिए बनाए जाते हैं, उसमें राष्ट्रहित ही सर्वोच्च होता है। संविधान का निर्माण करते समय हमारे संविधान निर्माताओं ने अपने देश की विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का विशेष ध्यान रखा।

जब हम आजाद हुए थे उस समय हमारे यहाँ तकरीबन 560 छोटी-बड़ी रियासते थीं। उनमें से कई अलग देश के रूप में स्वतंत्र रहने का मंसूबा पाल रखा था। हैदराबाद जैसी कुछ रियासतों के मामले में तत्कालीन गृहमंत्री सरदार पटेल को विशेष प्रयास करना पड़ा। उस समय देश को एकजुट रखना सबसे बड़ी चुनौती थी। थोड़ी सी भी चूक से राष्ट्र बिखर सकता था। ऐसे हालात में अमेरिका की तर्ज पर राज्यों को बहुत अधिक अधिकार सम्पन्न होने से विघटनकारी तत्वों को मजबूती मिलती। उन हालात में केन्द्रीय सरकार को कानूनी रूप से भी अधिक सम्पन्न बनाने की जरूरत थी ताकि देश को एकजुट रखा जा सके। हमारे संविधान में अपनी विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसे अन्तिम रूप दिया गया। यही कारण है कि जहाँ आस-पास के देशों में पिछले 68 वर्षों में कही पर भी लोकतंत्र सुरक्षित नहीं रह पाया वहीं हमारे देश में यह लगातार पल्लवित ओर पुष्पित हो रहा है ।

राजनैतिक व्यवस्था को मजबूती देने में संस्कृति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। संस्कृति और राजनैतिक व्यवस्था का सामंजस्य एक दूसरे को ताकत देते हैं, इसलिए संविधान जैसे राजनैतिक दस्तावेज को अन्तिम रूप देने में सांस्कृतिक लोकस्वभाव को समझना जरूरी होता है। एकात्म मानववाद इस बात पर बल देता है कि "भारत की संस्कृति एकात्मवादी है, अतः

यह सम्पूर्ण जीवन का तथा सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। दीनदयाल जी की मान्यता थी कि हमारी संस्कृति पश्चिम के 'थीसिस' 'एण्टीथीसिस' और सिन्थेसिस से अलग है। हमारी संस्कृति अन्तर्विरोधों से नहीं अपितु एक दूसरे के साथ सामंजस्य बना कर परस्पर आगे बढ़ने में विश्वास रखती है। अनेकता में एकता और विविधता में एकता की स्वीकृति हमारी सोच का हिस्सा है। हमारी संस्कृति में पारस्परिक संघर्ष नहीं है। यहाँ तक कि द्वैतवादी भी प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे के पूरक मानते हैं।

दीनदयाल उपाध्याय की मान्यता थी कि "जिसकी लाठी उसकी भैंस" (Survival of the Fittest) जंगल का कानून है। हमारी संस्कृति सामंजस्य और सहजीवन पर आधारित है। कानून के निर्माण और सफलता के लिए यह सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है। इस सोच से संघीय ढाँचे को मजबूती मिलती है। राज्य सरकारों की शासन व्यवस्था एक दूसरे से अलग होने के बावजूद एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक होना चाहिए। इसी तरह राज्यों और केन्द्र के बीच भी दूसरे के साथ सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध होने पर राष्ट्र ताकतवर बनता है। जो एकात्म मानवाद के सिद्धान्त का स्वाभाविक निर्वचन है।

राज्य की न्याय व्यवस्था में दण्डनीति की बहुत अहम भूमिका होती है। यदि यह समाज की जरूरतों, उसकी परिस्थितियों और आकांक्षाओं के अनुरूप हो तो न्याय व्यवस्था सफलीभूत होती है। एकात्म मानववाद इस सिद्धान्त से सहमति जताता है कि राजा को न तो क्षीण दण्ड होना चाहिए और न उग्रदण्ड होना चाहिए, अपितु मृदुदण्ड होना चाहिए। इसका कारण स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी ने कहा कि यदि राज्य दण्ड नीति का अत्यधिक सहारा लेता है तो प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा हो जाती है। दण्ड का उद्देश्य केवल यह है कि अपराधों पर नियन्त्रण रहे और पीड़ित व्यक्ति को भरोसा हो जाए कि उसके साथ न्याय हो रहा है। दण्ड का उद्देश्य किसी से बदला लेना नहीं है और न ही यह किसी को आतंकित करने के लिए होना चाहिए। दण्ड और अपराध की गम्भीरता में एक आनुपातिक सम्बन्ध भी होना चाहिए। छोटी-मोटी गलतियों के लिए यदि कठोर कारावास या

मृत्युदण्ड की व्यवस्था हो तो यह गैर आनुपातिक हो जाएगा। उसी तरह जघन्य अपराधों के लिए यदि जुर्माने की सजा तय कर दी जाए तो यह भी सही नहीं है। इसलिए दण्ड का निर्धारण अपराध की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। अपराध के पीड़ित को यदि उचित न्याय नहीं मिलेगा तो राज्य व्यवस्था से भरोसा उठ जाएगा। इसी तरह छोटे से अपराध के लिए गैर अनुपातिक रूप से अत्यधिक कठोर दण्ड हो तो भी लोगों का भरोसा कम होता है तथा अपराधी के प्रति सहानुभूति पैदा होती है।

समाज और कानून के बीच गहरा अन्तर्सम्बन्ध होता है। धर्म समाज के नियमन के कई साधनों में से एक है। सामाजिक परम्पराएं भी समाज के नियमन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, किन्तु कानून का महत्व पिछले सौ वर्षों में बहुत अधिक बढ़ा है, इसलिए कानून के निर्माण और उसकी सफलता के लिए समाज को समझना बहुत जरूरी है। दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद के अनुसार समाज स्वयंभू है, क्योंकि उसे व्यक्ति ने नहीं बनाया वरन् वह स्वतः स्फूर्त है। उनके अनुसार, पश्चिम का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त गलत है, क्योंकि समाज ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी जैसा कृत्रिम संगठन नहीं है, इसकी अपनी हस्ती है। यह व्यक्ति की ही तरह पैदा होता और विकसित होता है तथा व्यक्ति की तरह ही इसमें बुद्धि, आत्मा और शरीर होता है। अतः कानून बनाते समय उस समाज की प्रकृति, उसके चरित्र और लोकाचार को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

दीनदयाल उपाध्याय जी राज्य के लोक कल्याणकारी प्रकृति के समर्थक तथा निरंकुशता के प्रबल विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि राज्य जब सभी प्रकार की विभूतियों को अपने अधीन कर लेता है तब वह समाज के लिए अत्यंत घातक होता है। इतना ही नहीं उनका यह भी मानना था कि राज्य की शक्ति और क्षेत्र यदि अमर्यादित हो गए तो सम्पूर्ण जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। इसका स्पष्ट संदेश यह है कि राज्य को कानून बनाते समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। उसे केवल वहीं पर दखलंदाजी करनी चाहिए जहां ऐसा करना बहुत जरूरी हो। गैरजरूरी दखलंदाजी से सामाजिक निष्क्रियता का खतरा बढ़ जाता है, क्योंकि राज्य के ऊपर समाज की

निर्भरता बढ़ जाती है और वह हर काम के लिए सरकारी सहायता की बाट जोहने लगता है। इससे सामाजिक आलस्य और सामाजिक स्वाभिमान बोध भी कम होता है, इसलिए कानून बनाते समय अतिसक्रियता से परहेज करना चाहिए।

समाज एक ऐसी सत्ता होती है, जिसकी अपनी सत्ता है, अपना जीवन है और अपनी आत्मा है। इसलिए यह व्यक्ति की ही तरह एक जीवमान सत्ता है, जैसे व्यक्ति जब अलग रहता है तो उसका अलग मस्तिष्क होता है और जब समाज के साथ रहता है तो उसका सामूहिक मस्तिष्क होता है। वह अलग व्यक्ति के मस्तिष्क से बिल्कुल भिन्न हो सकता है। इसीलिए कभी-कभी ऐसे अनुभव भी आते हैं कि व्यक्ति के नाते एक व्यक्ति अत्यंत कमजोर होते हुए भी समूह के नाते वह बहुत बड़ा पराक्रमी बन जाता है। व्यक्ति के नाते मनुष्य जिन बातों को सहन कर लेता है, समाज के नाते वह उन बातों को सहन करने को तैयार नहीं होता। व्यक्ति के नाते कोई व्यक्ति अच्छा और समाज के नाते बहुत बुरा हो सकता है। उसी तरह समाज के नाते कोई व्यक्ति बहुत अच्छा तो व्यक्ति के नाते वह बहुत बुरा हो सकता है।

एकात्म मानववाद का यह सिद्धान्त कानून के निर्माण में बहुत उपयोगी है। कानून बनाते समय जब तक सामाजिक जरूरतों और आकांक्षाओं को ध्यान में रखा जाता है तब तक उसकी प्रासंगिकता बनी रहती है अन्यथा वह निष्प्रयोज्य और निष्प्रभावी हो जाता है।

एकात्म मानवाद के लिए राष्ट्र का तात्पर्य पश्चिमी जगत के राज्य की अवधारणा से अलग है। पश्चिमी चिन्तन पद्धति में राज्य के लिए एक निश्चित भू-भाग, उसमें जनसंख्या, सरकार तथा प्रभावी प्रशासनिक ढांचे का होना जरूरी है। वहीं दीनदयाल उपाध्याय जी उसमें भावनात्मक आयाम को भी जरूरी मानते हैं। उनके अनुसार जब एक मानव समुदाय के समक्ष एक मिशन, विचार और आदर्श रहता और वह किसी भूमि विशेष को मातृ भाव से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है। इसमें किसी एक का अभाव रहने पर वह राष्ट्र नहीं बनेगा। दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार राष्ट्र केवल एक राजनैतिक इकाई से अधिक कुछ है। वह राजनैतिक इकाई से ज्यादा एक भावनात्मक इकाई है। दीनदयाल जी के लिए राष्ट्र जमीन का एक टुकड़ा मात्र नहीं है। राष्ट्र की उनकी परिकल्पना में ऐसे लोग आते हैं जिनका अपना एक मिशन हो और उद्देश्य हो। इसे स्पष्ट करते

हुए उन्होंने कहा कि राष्ट्र का अस्तित्व उसके नागरिकों के जीवन का ध्येय भूत भाव है। इसीलिए वे इसे आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि बाहरी बदलाव होते रहते हैं, किन्तु राष्ट्र बरकरार रहता है। किसी भी सरकार द्वारा बनाया गया कानून या संविधान संशोधन केवल उसी सरकार के लिए नहीं अपितु सभी के लिए सम्माननीय है। एक सरकार द्वारा तय की गयी नीति दूसरी सरकार के लिए भी बाध्यकारी है। बदली हुयी परिस्थितियों में यदि उसमें कोई संशोधन करने की आवश्यकता है तो संविधान द्वारा निर्धारित पद्धति से राष्ट्र के भाव को अन्तर्निहित करते हुए ही उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

आधुनिक विधिशास्त्र में राज्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। वह अन्य सभी संस्थाओ में सर्वोपरि माना जाता है। एकात्म मानववाद इस धारणा से असहमति व्यक्त करता है। दीनदयाल जी की मान्यता थी कि राज्य ही सब कुछ नहीं है। उनकी मान्यता थी कि राज्य, राष्ट्र का एक प्रतिनिधि है, यह उसका एक महत्वपूर्ण उपांग है, किन्तु वह सर्वोपरि नहीं है। उनका मानना था कि राज्य को राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि मान लेने से वह एकाधिकारवादी हो जाता है और दूसरी संस्थाएं नगण्य हो जाती हैं। इसलिए एकात्म मानववाद राज्य की दूसरी संस्थाओं को भी प्रश्रय देने और उन्हें ताकतवर बनाने का समर्थक है। जब समाज की राज्य पर निर्भरता कम होती है, तो समाज आत्मनिर्भर होता है, समाज का स्वाभिमान बोध बढ़ता है तथा राज्य पर काम का बोझ और उनकी जटिलताएं कम होती हैं, जिससे उसे विकास की नयी योजनाएं बनाने और उनके क्रियान्वयन में आसानी होती है।

दीनदयाल उपाध्याय जी राज्य की अन्य संस्थाओं को ताकतवर बनने के साथ ही उन्हें सावधान करना चाहते थे कि आत्मनिर्भर होने का मतलब राज्य के प्रति उदासीन होना नहीं होता। डा. भीमराव अम्बेडकर के हवाले से उन्होंने कहा था कि हमारी पंचायते इतनी महत्वपूर्ण रहीं कि दिल्ली के तख्त के प्रति हम उदासीन हो गए। राज्य के प्रति हमें जितना सचेष्ट व सतर्क होना चाहिए उतना हम नहीं रह पाए, इस कारण हमें लम्बे समय तक गुलाम रहना पड़ा। अतः स्थानीय विकास के लिए छोटी-छोटी संस्थाएं अत्यंत महत्वपूर्ण होने के बावजूद समजा को राज्य की केन्द्रीय सत्ता के प्रति सचेष्ट और सतर्क रहना चाहिए।

*****

इक्कीसवीं सदी में एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा[1]

दीनदयाल जी कहते हैं कि एकात्म मानववाद कोई नई बात नहीं है। दीनदयाल उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद भारतीय सनातन परम्परा का नवीन भाष्य है। प्रसंग विशेष में उन्होंने इसे एकात्म मानववाद नाम दिया। प्रसंग यह था कि दीनदयाल जी जब राजनीति में आये तो उस समय जो विचारधाराएं राजनीति में प्रचलित थीं और आपस में लड़ रही थीं, वह थीं व्यक्तिवाद और समाजवाद। एक का कहना था समाज व्यक्तियों का दुश्मन है, अतः समाज को हटाओ, समाज एक आवश्यक बुराई है तो दूसरे का कहना था कि व्यक्ति समाज का दुश्मन है और इसी के कारण तानाशाही आती है, इसलिए सर्वाहारा की स्थापना करो। भारतीय मन को यह लगा कि क्या व्यक्ति समाज का दुश्मन हो सकता है या समाज व्यक्ति का दुश्मन हो सकता है? यह अवधारणाएं गलत हैं। सही दृष्टि क्या है? इसके लिए दीनदयाल जी ने कहा भारत की ओर नजर घुमाओ। पाँच हजार साल से यह देश एक संस्कृति को लेकर जीवित है, जिसमें व्यक्ति और समाज को बांटा नहीं जा सकता। जो इकाई बांटी नहीं जा सकती उसे एकात्म कहते हैं और जो इकाई बंट सकती हैं वह एकात्म नहीं हो सकती। मानव को व्यक्ति और समष्टि में बांटा नहीं जा सकता। व्यक्ति और समष्टि में बांटना खतरनाक है।

1 अध्यक्ष एकात्म मानववाद दर्शन अनुसन्धान एवं विकास प्रतिष्ठान द्वारा महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ के तत्वावधान में दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित कार्यक्रम में दिनांक 11 फरवरी 2016 को दिया गया व्याख्यान।

आज आजादी के 70 वर्ष बाद भी हम पश्चिम के प्रतिमानों पर ही चल रहे हैं। हमारी पार्लियामेंट, हमारे विश्वविद्यालय, हमारे न्यायालय सभी का मानक सभी का आदर्श पश्चिम का ही है। इससे बाहर कैसे निकला जा सकता है? इसके लिए दीनदयाल जी कहते हैं यह जो पश्चिम से धारा आयी है इस धारा ने अजीबो-गरीब तरीके से मनुष्य को राज्य का दास बना दिया है। कैसे हो गया दास? कहा गया कि सब लोग कानून से चलेंगे। कानून कौन बनायेगा? कानून राज्य बनायेगा। कानून को लागू कौन करेगा? कानून को राज्य ही लागू करेगा। राज्य एक बहुत कमजोर औजार है जो मानव को सुखी नहीं कर सकता हैं, इसलिए हमें यह समझना पड़ेगा कि मानव को सुखी करने के लिए कुछ और औजार है और वह औजार है संस्कृति। भारत राज्याधारित समाज नहीं था और न है। भारत संस्कृति आधारित समाज था और है। आज भी हम परिवार चलाते हैं। आज परिवार कोई संवैधानिक इकाई नहीं है। भारत के संविधान में परिवार का उल्लेख भी नहीं है, लेकिन आज भी भारत की सबसे ताकतवर व्यवस्था परिवार है। संस्कृति के कारण भारत की विवाह व्यवस्था ताकतवर है। संस्कृति के कारण माता-पिता, माता-पुत्र, पिता-पुत्र, भाई-बहन इनके रिश्ते ताकतवर हैं। इनके लिए कोई कानून नहीं बनता और बने हुये कानून काम नहीं करते। दहेज होना चाहिए या नहीं होना चाहिए यह मैं नहीं कह रहा हूँ, लेकिन यहां के लोगों के मन में, संस्कार में बेटियों को देने का भाव है तो देना ही है। उसे आप दहेज नाम दें या न दें। कानून कहता है कि सभी संतानों का सम्पत्ति में बराबर का अधिकार हैं यानी बेटे और बेटी का बराबर अधिकार हैं। समाज इसे मानता है क्या? समाज इसे नहीं मानता। भारत की चेतना कहती है कि भाई-बहन का स्नेह महत्त्वपूर्ण है। इस स्नेह को बने रहना चाहिए। सम्पत्ति को लेकर उनके बीच तनाव नहीं होना चाहिए। इसलिए बेटियों को सहज रूप से देने की प्रथा प्रचलित हुई। दहेज प्रथा में मांग या मोल-भाव बुरी चीज है, दहेज प्रथा में लोभ-लालच बुरी चीज है, दहेज प्रथा में दिखावा बुरी चीज है, लेकिन देने का भाव बुरा नहीं है, इसलिए भारत के समाज शास्त्र को समझें, भारत की संस्कृति को समझें।

क्या कारण था कि पाँच सौ साल पहले एक योरोपियन भारत को खोजने के लिए अपने देश से बाहर निकला। क्यों खोजना था उसे भारत? क्योंकि उसने

सुन रखा था कि भारत सोने की चिड़ियां हैं। भारत में दूध-दही की नदियां बहती हैं, सम्पन्न लोग हैं, अच्छा खाना खाते हैं। ऐसे भारत की खोज में वह निकला, इसका अर्थ है कि उसका अपना देश ऐसा नहीं था। उस व्यक्ति का नाम कोलम्बस था। वह भारत नहीं पहुंचा। वह जिस स्थान पर पहुंचा उसे लगा यही भारत हैं, इसलिए वहां के लोगों को आज भी रेड इंडियन कहा जाता है। भारतवर्ष के पूर्व तिब्बत, थाईलैण्ड, चीन, जापान और कोरिया हैं। आज जाकर के वहां के लोगों से पूछियें कि भारत के बारे में उनकी क्या राय हैं? वहां के लोग भारत को गुरु के रूप में मानते हैं। वहां जाने पर आपको अतिरिक्त सम्मान प्राप्त होता हैं। आज भी चीन में एक कहावत प्रचलित है कि जो पुण्य कर्म करता है उसका अगला जन्म भारत में होता हैं। हमारे पश्चिम में अरब देश हैं। अरब में सबसे बड़े महापुरुष हुये मोहम्मद साहब, जिन्होंने इस्लाम का प्रवर्तन किया। उनकी हदीस है, जिसमें वे कहते हैं कि हिन्द की ओर से हमें ठण्डी हवाएं आती हैं। अल्लमा इकबाल का एक शेर है "मीरे अरब को आई ठण्डी हवा जहाँ से, मेरा वतन वही है मेरा वतन वही है"। अल्लमा इकबाल कहते हैं मोहम्मद साहब को ठण्डी हवा जहाँ से आती है वही मेरा देश हैं। अतः भारत के पूरब के लोगों को भारत गुरु नजर आता है, पश्चिम के लोगों को सोने की चिड़ियाँ नजर आता है और अरब के लोगों को भारत से ठण्डी हवा आती है। यही मेरा भारत हैं।

यह भारत बना कैसे, क्या है भारत? क्या इसे किसी समाजवाद ने बनाया? क्या इसे किसी व्यक्तिवाद ने बनाया? क्या इसे सेक्युलरिज्म ने बनाया या किसी थेओक्रेसी ने बनाया? इस सम्बन्ध में भी इकबाल का एक शेर है। "यूनान मिश्र रोमा सब मिट गये जहाँ से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" वह कौन सी बात है? वह बात है भारत की संस्कृति, भारत की समाज की रचना, भारत की चिति। भारत की समाज रचना और चिति को समझते हुए पं. दीनदयाल जी ने उसे एक शब्द में एकात्म मानववाद कहा। अब प्रश्न उठता है कि एकात्म मानववाद आज प्रासंगिक है क्या? जब वाद कहते हैं तो वाद के साथ प्रासंगिकता जुड़ी होती है, क्योंकि एकात्म तो सनातन है। मानव का मानव के साथ सम्बन्ध, मानव का समाज के साथ सम्बन्ध, मानव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध, प्रकृति का समाज के साथ सम्बन्ध यह बदलते हैं क्या? यह सनातन

है, परन्तु इनके प्रकार बदलते है। हर युग में इनके प्रकार बदल जाते हैं, इनके भाष्य बदल जाते हैं। अतः आज के मानव की पीड़ा क्या है और इस पीड़ा का जवाब हम एकात्म मानववाद से दें सकते हैं क्या? यही आज का प्रश्न है।

मैं आप को एक छोटा सा आंकाड़ा देना चाहूँगा। 21वीं सदी में दुनिया का सबसे विकसित, सबसे ताकतवर और सबसे सम्पन्न देश अमेरिका जहाँ धरती के 3 प्रतिशत मानव निवास करते हैं, वहाँ एक शोध हुआ। उस शोध के अनुसार अमेरिका में रहने वाली 3 प्रतिशत जनसंख्या धरती के 23 प्रतिशत संसाधनों का उपभोग करती है और 27 प्रतिशत प्रदूषण उत्पन्न करती है। विश्व के अनेक देशों में सेनायें रहती हैं, पुलिस रहती है उनके पास अस्त्र-शस्त्र रहता है, लेकिन अमेरिका एक ऐसा देश है जहाँ हर व्यक्ति के पास शस्त्र है। दुनिया में सर्वाधिक शस्त्र अमेरिका के नागरिकों के पास है, क्योंकि वहाँ हर एक व्यक्ति को हर एक से खतरा है। पत्नी पिस्तौल रखकर सोती है ताकि पति उसके साथ बदसलूकी न करे। जब बच्चा स्कूल जाता है तो उसे पहला पाठ पढ़ाया जाता है कि जब तुम्हारे माता-पिता तुम्हें प्रताड़ित करें तो यह पुलिस का नम्बर है, तुम फोन करना। चाइल्ड राइट्स की समस्या कहाँ से आती है, बच्चों के अधिकार का हन्ता कौन है? बच्चों के अधिकार के हन्ता हैं उनके माता-पिता। वहाँ माता-पिता पालक नहीं दुश्मन हैं। पति-पत्नी में एकात्मता नहीं हैं। अमेरिका के समाजशास्त्री परेशान हैं कि वहाँ आत्म-हत्या और किशोर अपराध बढ़ रहे हैं। ऐसा कोई साल नहीं जाता है जब 5-10 विद्यालयों में विद्यार्थी आपस में पिस्तौल न चलाते हों। सहनशीलता नाम की चीज नहीं है। यह स्थिति है अमेरिका की और उनके जीवन पद्धति की।

आज ग्लोबलाइजेशन का नारा दिया जा रहा है। इस ग्लोबलाइजेशन की जरूरत किसे थी? इसकी मांग किसने की? किसी एक एशियाई विद्वान, अर्थशास्त्री या समाजशास्त्री, राजनेता या विधिवेत्ता का नाम बताइये जिसने ग्लोबलाइजेशन की मांग की हो? किसी एशियन या अफ्रीकन ने ग्लोबलाइजेशन की मांग नहीं की। ग्लोबलाइजेशन की मांग की यूरो-अमेरिकन वर्ग ने। क्या उन्हें मानव की विकास की बहुत चिंता थी? नहीं, बल्कि उनका 500 वर्षों का जो इतिहास रहा है, जिसमें उनके पूर्वजों ने दुनिया

को लूट-लूट के अपनी सम्पन्नता बनायी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उनका वह साम्राज्य खत्म हो गया, अब वे दुनिया से कैसे प्राप्त करें। तब उन्होंने ग्लोबलाइजेशन का सहारा लिया। आज हमारे देश के बच्चें एम.बी.ए. या कोई प्रोफेशनल कोर्स कर रहे हैं। उनसे पूछिये वे किसलिये यह कोर्स कर रहे हैं। उनका उत्तर होगा अच्छे जॉब के लिए। यह जॉब कौन देगा? सरकार या कम्पनियाँ। आप कल्पना कीजिए उस दिन की जब भारत की सारी प्रतिभाएं विदेशियों की नौकर होंगी और भारत का सारा उत्पादन विदेशियों का होगा, सारी मिलकियत विदेशियों की होंगी और काम करने वाले भारत के लोग होंगे।

अर्थशास्त्र में मानव श्रम का कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे उपयोग हो रहा है इसको कहने के लिए दो शब्दों का प्रयोग हो रहा है। आर्गनाइज्ड सेक्टर यानी संगठित क्षेत्र और दूसरा अनआर्गनाइज्ड सेक्टर यानी असंगठित क्षेत्र। यह आर्गनाइज्ड सेक्टर क्या है? आर्गनाइज्ड सेक्टर का अर्थ है सरकारी और गैर-सरकारी सभी कम्पनियाँ। यह कम्पनियाँ कितने लोगों को रोजगार देती हैं? कोई कहता है 6 प्रतिशत तो कोई कहता है 7 प्रतिशत, यानी 93-94 प्रतिशत लोग आज भी अनआर्गनाइज्ड सेक्टर के हैं। यह अनआर्गनाइज्ड नाम इनको किसने दिया? दीनदयाल जी कहते हैं ये अनआर्गनाइज्ड नहीं हैं, ये सेल्फइम्प्लाइड हैं और इसी अनआर्गनाइज्ड सेक्टर ने विकेन्द्रीकरण के बल पर भारत को सोने की चिड़ियाँ बनाया था। दीनदयाल जी कहते हैं कि सरकार का केन्द्रीकरण, अर्थ का केन्द्रीकरण यह ठीक नहीं है, विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। जहाँ केन्द्रीकरण होता है वहाँ विषमतायें उत्पन्न होती हैं, बेरोजगारी आती है। आज यही स्थिति है कि अपने विश्वविद्यालयों से, अपने संस्थानों से हम जितने लोगों को उत्पन्न कर रहे हैं वे सब लोग नौकरी चाहने वाले हैं। वे जॉब क्रिएटर नहीं, जॉब सीकर हैं। उत्पादन दो स्थानों पर होता है, खेतों में या उद्योगों में। क्या हम अपने संतानों को खेती और उद्योजकता दे रहे हैं? ना केवल हम क्या विश्व दे रहा है? नहीं। क्योंकि इन पर केन्द्रीत कब्जा करने के लिए कुछ एजेन्सीज तैयार हैं। इन एजेन्सीज को नौकर चाहिए। केन्द्रीकरण को नौकरों की आवश्यकता हैं, इसलिए इन नौकरों को तैयार करने के लिए विश्व भर के विश्वविद्यालय काम करते हैं।

दीनदयाल जी कहते हैं इसका उत्तर है विकेन्द्रीकरण। अनुसंधान करो,

शोध करो, विचार करो कि हर व्यक्ति के हाथ में काम हो, हर व्यक्ति क्रियाशील हो। कोई बेकार न बैठे, हर व्यक्ति को उसके स्वभाव के अनुसार कार्य मिले। आज स्थिति यह है कि पहले ही यह तय हो जाता है कि तुमको यह नहीं करना है। तुम्हारी शरीर विज्ञान में कोई रूचि हो या न हो लेकिन तुम्हारें माँ-बाप की इच्छा है कि तुम्हें डॉक्टर बनना चाहिए, तुम्हारी यंत्र में कोई रूचि हो या न हो लेकिन तुम्हारे माँ-बाप की इच्छा है कि तुम्हें इंजीनियर बनना चाहिए। आज जब हम किसी छात्र से पूछते हैं कि तुम्हें आगे क्या करना हैं तो उसका उत्तर होता है किसमें अधिक संम्भावना हैं। मेरी रूचि हो या नहीं इस पर मेरा कार्य निर्भर नहीं करता, अपितु आज किसमें अधिक संम्भवना है यह देखा जाता है। इस परिस्थिति में व्यक्ति की सृजनशीलता बढ़ेगी या घटेगी?

दीनदयाल जी का कहना है कि हर व्यक्ति में जो सृजनशीलता है उसका सम्मान होना चाहिए। सृजनशीलता को नष्ट करने वाली व्यवस्था अमानवीय है। वे सारे तत्त्व जो एकात्मता को आहत करते हैं वे अमानवीय हैं और वे सारे तत्त्व जो एकात्मता को पुष्ट करते हैं वे मानवीय हैं। इसलिए एकात्म मानववाद सरकारों से न अपेक्षा करता है और न मांग करता है। दीनदयाल जी कहते हैं सरकारों का काम हैं समाज की सहायता करना। सरकारों का काम है समाज और संस्कृति के पोषण में खड़ा होना। सरकारों का काम समाज को संचालित करना नहीं है। यदि सरकार से संचालित समाज होगा तो समाज बड़ी चीज है और सरकार छोटी चीज है। छोटी चीज बड़ी चीज का संचालन नहीं कर सकती। यदि छोटी चीज बड़ी का संचालन करेगी तो उसे छोटा बनाने का कोशिश करेगी, क्योंकि वह बड़ी का संचालन कर ही नहीं सकती।

दीनदयाल जी भारत के नीति निर्माताओं से आग्रह करते हैं कि पश्चिम से आयी राज्य आधारित, केन्द्रीकृत व्यवस्था को ज्यों के त्यों स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन क्या पश्चिम के इतने सारे विचार और उसकी यात्रा निर्थक है? यह बेकार नहीं है, यह मानवकृत ही है, परन्तु इसे देखकर समझना चाहिए कि गलती कहां हुई है और कहां हो रही है। पश्चिम को कटघरे में खड़ा करना दीनदयाल जी की नियत नहीं है। जब वे पश्चिम की आलोचना करते हैं तो वे पश्चिम के दुश्मन नहीं हैं, पश्चिम के

निन्दक नहीं हैं, सम्पूर्ण मानवता यानी व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि की एकात्मता का साक्षात्कार उनका ध्येय है। व्यक्ति इस एकात्मता का साक्षात्कार करे और जीवन को संस्कृति के आधार पर निर्मित करे अर्थात् जीवन संस्कारों से निर्मित हो। आज हम देखते है कि कानून को तोड़ने में व्यक्ति को देर नहीं लगती, परन्तु जीवन के संस्कार छूटते और टूटते नहीं, उनको छोड़ना लोग स्वीकार नहीं करते।

पश्चिम में कल्चर का अनुवाद संस्कृति के रूप में करते हैं। वहां कल्चर का अर्थ है पहनावा-ओढ़ावा। आजकल लोग सांस्कृतिक कार्यक्रम का अर्थ नृत्य, गायन, वादन आदि के रूप में करते हैं, लेकिन केवल नृत्य ही संस्कृति का हिस्सा नहीं है परिवार, समाज और राष्ट्र भी संस्कृति का हिस्सा है और यही नहीं बाजार भी संस्कृति का हिस्सा है। यह संस्कार कि व्यक्ति परिवार में कैसे रहे, बाजार में कैसे रहे, सरकार में कैसे रहे यह संस्कृति का हिस्सा है। आज भारत का समाज विश्व के सम्मुख अपने संस्कृति के साथ खड़ा हो इसलिए परिवार, विवाह, जनपद, राज्य आदि सभी संस्थाओं में युगानुकूल परिमार्जन की आवश्यकता है। दीनदयाल जी ने इसके लिए शब्द दिया है व्यवस्थाओं का भारतीयकरण। यह निरंतरता का कार्य है, जो निरंतर होना चाहिए।

एक कानूनी अधिकार है अभिव्यक्ति की आजादी का जो पश्चिम से आया है यानी हमें अपनी बात कहने की स्वतंत्रता है, हम जो भी चाहे कुछ भी कह सकते है। लेकिन भारतीय मनीषा में यह भाव भरा गया कि जिसको तुम सच समझते हो चाहे उससे जितना भी नुकसान हो तुम वही बोलो, जिसको तुम सत्य नहीं समझते उसको मत बोलो, चाहे कितना भी लाभ हो जाए तुमको झूठ नहीं बोलना चाहिए, तुमको सत्य ही बोलना चाहिए। अभिव्यक्ति का अधिकार कानून के अंतर्गत है, इसलिए सोचें की भारत की मनीषा में सत्य कैसे बोलें यह संस्कार कैसे विकसित हुआ। सत्य बोलना यह एक जीवन मूल्य है। सत्य बोलना यह जीवन मूल्य संस्कार से आयेगा, जबकि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कानून से प्राप्त होगी, इसलिए यह विचार करें कि भारत की मनीषा ने सत्य बोलने का संस्कार समाज में कैसे स्थापित किया। मैं आपको उदाहरण देता हूँ जब मैं स्कूल में पढ़ता था तब स्कूल के बाहर एक बाबा थे, जो चना आदि बेचते थे। एक दिन बाबा के पास एक बच्चा पाँच की नोट लेकर आया। पाँच की नोट का उस समय बहुत

बड़ा महत्त्व था जितना आज हजार की नोट का हुआ करता है। बाबा ने सोचा यह पाँच का नोट इतने छोटे बच्चे के पास कहां से आयेगा, हो सकता है इसने चोरी की हो। बाबा ने अपनी दुकान बंद किया और बच्चे को साथ लेकर उसके घर चले गये। उन्होंने बच्चे के मां-बाप को समझाया कि इतना पैसा नहीं देना चाहिए। इससे बच्चे का संस्कार खराब हो जायेगा। यदि आज हम सोचें तो वह बाबा एक व्यापारी था। व्यापारी के लिए तो सबसे अच्छा ग्राहक वह है जो अधिक से अधिक व्यय करे, लेकिन बाबा ने यह सोचा कि मेरे पाँच पैसे की कमाई से यह अधिक घाटे का सौदा है कि समाज का एक बच्चा बिगड़ रहा है। आज हम छोटे लाभ के प्रति लोलुप हो गये हैं और उस बड़े लाभ की उपेक्षा करते हैं। व्यापार के लिए सबसे अच्छी स्थिति वह होती है जब सप्लाई कम हो और मांग अधिक हो। राजस्थान में सबसे अधिक डिमांड पानी की होती है, लेकिन वहां के व्यापारियों ने क्या किया? वहां के व्यापारियों ने कहा कि पानी का व्यापार नहीं करेंगे। पानी पर हम स्वयं व्यय करेंगे। अपनी कमाई से तालाब खुदवायेंगे, कुँआ खुदवायेंगे, प्याऊ लगवायेंगे। आज के आर्थिक व्यवस्था के अनुसार वे लोग बेवकूफ थे।

भारतीय चिंतन पद्धति में समाज का अंगभूत घटक हूँ। मैं स्वाभिमानी, स्वावलम्बी, स्वायत्त व्यक्तित्व हूँ और समाज का घटक हूँ, प्रकृति का हिस्सा हूँ यह मेरा पूरा परिचय है। इस पूरे परिचय को एक शब्द में कहना हो तो मैं मानव हूँ और एकात्म हूँ, यही है दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद। आज मानवता जिन-जिन समस्याओं से जूझ रही है वे समस्यायें उन विचारधाराओं की देन है जिन विचारधाराओं ने 19वीं-20वीं सदी में शासन किया। 19वीं और 20वीं सदी में किये गये उनके कार्यो का परिणाम हम 21वीं सदी में भोग रहे हैं। इन समस्याओं से मुक्त होना है तो इन विचारधाराओं से मुक्त होना होगा। एक व्यक्तिवादी और दूसरी समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं की परीक्षा हो चुकी है। हमें तीसरा रास्ता खोजना होगा जो पं. दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद है। उसे समझना, अनुसंधान करना, प्रयोग करना और उसको लागू करने की कोशिश करना यह हमारी पीढ़ी का काम है।

*****

दीनदयाल उपाध्याय के चिन्तन की प्रासंगिकता

डा0 कुलदीप चन्द्र अग्निहोत्री

दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रचारक थे। 1950 में जब भारतीय जनसंघ का गठन हुआ तो वे जनसंघ का कार्य देखने लगे। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कहा था कि यदि मुझे दीनदयाल उपाध्याय जैसे चार कार्यकर्ता मिल जायें तो मैं देश की राजनीति बदल सकता हूँ। उपाध्याय जी जोड़ने की कला में माहिर थे। शायद यही कारण था कि जब जनसंघ की स्थापना के दो वर्ष के भीतर ही डॉ. मुखर्जी की श्रीनगर में संदिग्ध हालात में मृत्यु हो गई तो बहुत लोगों को लगता था कि अब जनसंघ चल नहीं पायेगा। दीनदयाल जी ने इस आशंका को निर्मूल सिद्ध किया और जनसंघ प्रगति पथ पर बढ़ने लगा। दीनदयाल उपाध्याय राम मनोहर लोहिया के साथ मिलकर देश की राष्ट्रवादी शक्तियों का एक मंच तैयार करना चाहते थे। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि न तो डा0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी की हत्या पर से पर्दा उठ पाया और न ही दीनदयाल उपाध्याय की हत्या से, लेकिन दीनदयाल जी ने राष्ट्रवादी शक्तियों के लिये जो आधार भूमि तैयार कर दी थी उसी का सुफल था कि बीसवीं शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रवादी शक्तियाँ देश की राजनीति की धुरी में स्थापित हो गईं।

दीनदयाल जी की प्रसिद्धि का एक और कारण भी रहा। उन्होंने 22-25 अप्रैल 1965 को जनसंघ कार्यकर्ताओं के मुम्बई में हुये एक शिविर में चार व्याख्यान दिये थे। ये व्याख्यान उस समय के भारतीय जनसंघ के विचार-दर्शन की आधार भित्ति बने और इन्हीं को आधार बनाकर जनसंघ ने अपने विजयवाड़ा

---

[1]कुलपति, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महासचिव अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

अधिवेशन में सिद्धान्त और नीति दस्तावेज को पारित किया। उपाध्याय के ये चार व्याख्यान बौद्धिक जगत में एकात्म मानववाद के नाम से प्रसिद्ध हुये। बाद में ऐसा लगा कि वाद शब्द किसी भी विचार सारिणी के आगे दीवार बन जाता है और चिन्तन की निरन्तरता को अवरुद्ध करता है, इसलिये एकात्म मानववाद के स्थान पर एकात्म मानव दर्शन शब्द का प्रयोग किया गया। अर्थनीति में प्रचलित दो विचार धाराओं पूँजीवाद और साम्यवाद/मार्क्सववाद से बेहतर एकात्म मानव दर्शन हो सकता है, विश्वविद्यालयों में इस पर भी चर्चा प्रारम्भ हो गई। वैसे भी दीनदयाल उपाध्याय पूँजीवाद और मार्क्सवाद को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते थे। उनका मानना था कि इन दोनों चिन्तनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मोटे तौर पर दोनों दर्शन मनुष्य को एक आर्थिक प्राणी मानकर चलते हैं और मानते हैं कि यदि उसकी भौतिक आवश्यकताएं पूरी हो जायें तो वह सुखी हो सकता है। दोनों दर्शनों में केवल एक ही मुद्दे को लेकर विवाद है कि सम्पत्ति पर नियंत्रण किसका हो, व्यक्ति का या राज्य का। साम्यवाद राज्य का नियंत्रण चाहता है और पूँजीवाद व्यक्ति का नियंत्रण चाहता है, इसलिये अपने मौलिक रूप में ये दोनों विचारधाराएँ भौतिकवादी हैं।

दरअसल उपाध्याय की चिन्ता का एक और कारण भी था। उस देश में जहाँ विचार भिन्नता के चलते अनेक जीवन दर्शन विकसित हुये, षटदर्शन पल्लवित हुये, वहाँ अंग्रेजों के चले जाने के बाद भारत के विकास के लिए किस जीवन दर्शन को आधार बनाया जाये ताकि देश का विकास उसकी अपनी प्रकृति के अनुरूप हो सके, इस पर किसी ने विचार ही नहीं किया। जिन्होंने विचार किया, वे विदेशी विचार सारणियों के पिछलग्गू बन गये और उन्हीं विचारधाराओं को आधार बनाकर हिन्दुस्थान के विकास के सपने देखने लगे। ये विचारधाराएँ विदेशी समाजों के लिए गुणकारी हो सकती थीं, लेकिन भारतीय जनमानस के अनुकूल नहीं थीं। कुछ राजनैतिक दलों के लिये विचारधारा का प्रश्न ही गौण हो गया। जिन राजनैतिक दलों ने किसी विचारधारा को अपना राजनैतिक दर्शन घोषित भी किया, उसके लिये भी वह घोषणा एक नारे से ज्यादा महत्व नहीं रखती थी। दीनदयाल जी के अपने शब्दों में ही, "समय-समय पर कांग्रेस या दूसरे दलों के लोगों ने कल्याणकारी राज्य, समाजवाद, उदारमतवाद आदि का ध्येय अवश्य घोषित किया है, विविध नारे लगाये हैं, परन्तु जितने नारे लगाने वाले

लोग हैं उनके सामने उन विचारधाराओं का नारे से अधिक महत्व नहीं रहता।" (एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ 2) कांग्रेस के भीतर ही घोर साम्यवादी से लेकर घनघोर पूँजीवादी एक साथ विचरते थे। उपाध्याय मानते थे कि राजनैतिक दलों ने सत्ता प्राप्ति को ही साध्य मान लिया है, जबकि उनकी अपनी समझ में सत्ता साध्य प्राप्त करने का साधन मात्र है।

दीनदयाल जी मानते थे कि भारत के विकास की दिशा भारत की प्रकृति के अनुकूल ही होनी चाहिए। अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी भारत तथाकथित विकास के जिस माडल को ढो रहा है। वह बहुजन हिताय न होकर सीमित लोगों की स्वार्थ सिद्धि का माध्यम बन कर रह गया है। इतना ही नहीं वह विकास के नाम पर समाज को ऊर्जाविहिन भी बना रहा है। ऐसे वातावरण में उस समय एकात्म मानववाद की अवधारणा पर खूब चर्चा हुई। विश्वविद्यालयों में, बौद्धिक संस्थानों में यह गर्मागर्म बहस का विषय बना। सहमत होना या न होना अलग बात थी, लेकिन एकात्म मानववाद की अवेहलना करना बौद्धिक जगत के लिए मुश्किल था। दीनदयाल उपाध्याय ने मानव व्यवहार, व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बंधों, मनुष्य की जीवन यात्रा के उद्देश्य के मौलिक प्रश्नों पर चिन्तन करके एकात्म मानववाद की अवधारणा स्थापित की थी।

वास्तव में मानव को लेकर विश्व भर के चिन्तकों में आदि काल से चिन्तन होता रहा है। सभी चिन्तन, मानव के विकास और उसके सुख के लिए समर्पित होने का दावा करते हैं, लेकिन इस दिशा में चिन्तन करने से पहले यह भी जरूरी है कि मानव के मन को समझ लिया जाये। यदि मानव के मन की अवस्था की ठीक समझ आ जाये तभी तो उसके सुख व विकास के लिए रास्ते समझने का दावा किया जा सकता है। ऐसे चिन्तकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य समाजिक प्राणी है, वह अकेला नहीं रह सकता, उसका सुख-दुःख समाज के सुख-दुःख से जुड़ा हुआ है। दूसरे चिन्तकों ने इसे अमान्य किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य वास्तव में आर्थिक प्राणी है। उसकी समाजिकता भी तब तक ही है जब तक इससे उसके आर्थिक हितों की पूर्ति होती है। जीवन यापन के लिए जो बुनियादी जरूरते हैं, उन्हीं की प्राप्ति मनुष्य का लक्ष्य है और इसी से उसे सुख मिलता है। पश्चिम के कुछ चिन्तकों ने इसे भी नकार दिया। उनके अनुसार मानव व्यवहार वस्तुतः काम से संचालित होता है बाकी सब चीजें गौण

हैं। आंशिक तौर पर ये निष्कर्ष ठीक हो सकते हैं, परन्तु मानव मन को समझने के लिये यह तरीका ही ठीक नहीं हैं। यह चार अन्धों द्वारा हाथी को समझने का प्रयास ही कहा जायेगा। यह एकांगी पद्धति है। मानव मन को उसकी समग्रता में ही समझना होगा, परन्तु पश्चिम के चिन्तक इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं।

किसी भी चीज को समझने के लिये, चाहे वह प्रकृति हो चाहे मानव, पश्चिम की यह खण्डशः पद्धति है। यह पद्धति स्वयं ही दूषित है, इसलिये इसके निष्कर्ष भी दूषित हैं। पश्चिम ने मानव शास्त्र के जितने सिद्धांत गढ़े वे सभी किसी एक कारक को ही प्रमुख मानकर ही गढ़े गये। पूंजीवाद और साम्यवाद की अवधारणाएं वस्तुतः भौतिक कारकों को आधार बनाकर गढ़ी गई। कुछ साल पहले चैक गणराज्य की राजधानी प्राग में तिब्बत पर हो रहे एक अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन में चैक के पूर्व राष्ट्रपति जॉन हावेल ने कहा था कि हमने तो पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं को देख लिया है। दोनों व्यवस्थाए ही मूलतः अर्थवादी हैं और एकांगी हैं। जॉन हावेल शायद अप्रत्यक्ष रूप से दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का ही समर्थन कर रहे थे जो कम से कम एकांगी नहीं एकात्म और समग्र है। इन अवधारणाओं और सिद्धांतों से जिस प्रकार का नुकसान हो सकता था, पश्चिम उसको भोग रहा है। साम्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाओं के विकास ने जिस आर्थिक व्यवस्था को पैदा किया वह वास्तव में ज्यादा उपभोग पर आधारित है, जरूरतों पर नहीं, इसीलिये यह व्यवस्था प्रकृति के लिये विनाशकारी सिद्ध हो रही है। दीनदयाल उपाध्याय ने इसकी ओर संकेत किया है। उनके अनुसार, "लोगों के भरण पोषण के लिये, जीवन के विकास के लिये और राष्ट्र की धारणा एवं विकास के लिये जिन मौलिक साधनों की आवश्यकता होती है, उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। न्यूनतम मर्यादा के बाद और अधिक समृद्धि व भोग के लिये अर्थोत्पादन करना चाहिए या नहीं, यह स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है। पश्चिम का अर्थशास्त्र तो इच्छाओं को बराबर बढ़ाते जाना और उनकी निरन्तर पूर्ति करना ही अभीष्ट समझता है। इस विषय में इनकी कोई अधिकतम मर्यादा नहीं है। सामान्यता तो पहले इच्छा पैदा होती है और फिर उसकी पूर्ति के साधन जुटाये जाते हैं, किन्तु अब तो हालत यह हो गई है कि पैदा करने के स्थान पर पैदा किये गये माल के

लिये बाजार ढूँढ़ना, न मिले तो नया बाजार पैदा करना ही आज की अर्थनीति का प्रमुख अंग बन गया है। प्रारम्भ में उत्पादन उपभोग का अनुसरण करता था, अब उपभोग उत्पादन का अनुचर है।'' (एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ 58-59) जाहिर है पश्चिम की इस अर्थनीति ने प्रकृति में विनाशकारी असंतुलन पैदा कर दिया है।

इसी असंतुलन को देख कर दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानवदर्शन की अवधारणा स्थापित की। यह अवधारणा भारत के युग-युगीन सांस्कृतिक चिन्तन पर आधारित है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उपाध्याय जी मानते थे कि समाजवाद, पूँजीवाद या फिर साम्यवाद, एक ही सिक्के को दो पहलू हैं। संक्षेप में कहना हो तो अर्थवाद या भौतिकवाद मूलतः भटकाव ज्यादा पैदा करता है और समाधान कम देता है। पूँजीवाद या फिर साम्यवाद के निश्चित खांचों में फिट होने के लिए मानव नहीं है। मूल अवधारणा मानववाद की होनी चाहिए और बाकी सभी वाद या सिद्धान्त मानव को केन्द्र में रखकर ही रखे जाने चाहिए। लेकिन पश्चिम में इसके विपरीत हो रहा है। अर्थवाद के प्रणेताओं ने सिद्धांत गढ़ लिये हैं और अब मानव को विवश कर रहे हैं कि इन काल्पनिक सिद्धांतों के आधार पर स्वयं को ढालें। मानव की विकास यात्रा को खंड-खंड करके नहीं देखा जा सकता, उसके लिए एकात्म दृष्टि चाहिए। मानव को सभी प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता है। उसे समाज भी चाहिए, बुनियादी जरूरतों की पूर्ति भी चाहिए, काम के क्षेत्र में संगीत, साहित्य, कला भी चाहिए, परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उसे ये सब एक साथ ही चाहिए। प्राथमिकता अलग-अलग हो सकती है। शायद इसलिए दीनदयाल उपाध्याय ने मानव के विकास के रास्ते को एकात्म कहा है। एकात्म मानववाद मानव के सम्पूर्ण विकास की बात करता है। दीनदयाल उपाध्याय इसे पुरुषार्थ चतुष्ट्य की पुरातन भारतीय अवधारणा से समझाते थे। भारतीय चिन्तकों ने चार पुरुषार्थों की चर्चा की है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, परन्तु ये चारों पुरुषार्थ अलग अलग नहीं है, परस्पर गुम्फित हैं। धर्म की साधना शून्य में नहीं हो सकती। अर्थ और काम की साधना करते हुए ही धर्म की साधना करनी होगी। तभी अर्थ और काम की साधना में संतुलन बना रहेगा। ध्यान से देखा जाए तो मनुष्य जीवन प्रायः अर्थ और काम की साधना का ही नाम है, लेकिन यदि उसके लिए सीमा रेखा निर्धारित न तो यह साधना पशुवत हो जाएगी। धर्म मूल रूप में इन्हीं सीमा रेखाओं के समुच्चय का ही नाम है। अर्थ

और काम की साधना तो मनुष्य करेगा ही, लेकिन इन दोनों क्षेत्रों में कर्म करने के लिए धर्म की सीमा रेखा का उल्लंघन न हो, इसका सतत ध्यान रखना होगा।

एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि सभी प्रकार के पुरुषार्थों की साधना करते हुए मानव जीवन का कोई न कोई लक्ष्य भी होना चाहिए। भारतीय चिन्तकों ने इसी लक्ष्य को मोक्ष कहा है। व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से परमेष्टि तक की यात्रा। ऐसा नहीं कि पश्चिमी चिन्तकों ने मानव जीवन की इन आवश्यकताओं पर ध्यान न दिया हो, लेकिन पश्चिम का चिन्तन मूलरूप में खंडित चिन्तन है। वह चिन्तन धर्म साधना, अर्थ साधना, काम साधना और मोक्ष साधना को एक दूसरे से अलग मान कर चलता है। इसी के कारण खंडित जीवन दर्शन का विकास होता है। उससे जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ विकसित होती हैं, वे भी एकांगी और असंतुलित हो जाती हैं। आधुनिक जीवन की समस्याएँ इसी खंडित और एकांगी दर्शन से पैदा हुई हैं। दीनदयाल उपाध्याय का कहना था कि भारतीय जीवन दर्शन इन चारों पुरुषार्थों की समन्वित साधना का नाम है और यही एकात्म मानव दर्शन है।

लेकिन इन चार पुरुषार्थों में से कम से कम धर्म और मोक्ष को लेकर बहुत भ्रम फैला हुआ है। दीनदयाल जी ने इस भ्रम निवारण का प्रयास भी किया। दरअसल इस भ्रम निवारण के बिना एकात्म मानव दर्शन को सही परिप्रेक्ष्य में समझा ही नहीं जा सकता। यूरोपीय भाषाओं के अनुवाद में धर्म को रिलीजन मान लिया गया है। ज्ञान के क्षेत्र में यही हिमालयी भूल है। रिलीजन का अनुवाद भारतीय भाषाओं में पंथ, मत, सम्प्रदाय या मजहब हो सकता है। धर्म की भारतीय अवधारणा को समझने के लिए यूरोपीय भाषाओं में क्या शब्द हो सकता है? यथार्थ अनुवाद के लिए शायद वहाँ कोई शब्द दिखाई नहीं देता। निकटस्थ शब्द कर्तव्य हो सकता है। इसमें नियम को भी समाविष्ट किया जा सकता है। नियम आयेगा तो विधि या कानून भी आ जायेगा। ये सभी अवधारणाएँ सम्मिलित रूप में धर्म को समझने में सहायता कर सकती हैं। इसी प्रकार मोक्ष का अर्थ इस संसार से भागना नहीं है, बल्कि उस अनन्त रहस्य की खोज में लगना है। इसी खोज से ज्ञान वृद्धि होती है, इसलिए धर्म और मोक्ष की अवधारणा को सही पृष्ठभूमि पर समझने से ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य के दर्शन को समझा जा सकता है।

एकात्म की अवधारणा को समझाने के लिए दीनदयाल जी संबधों का

एक और उदाहरण दिया करते थे। एक ही व्यक्ति एक साथ कई सम्बन्धों को निभाता है। वह एक साथ ही पिता है, भाई है, बेटा है। ये सभी संबंध एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यही मानव प्रकृति की एकात्मता है। मनुष्य शिशु होता है फिर जवान होता है और अंत में बूढ़ा होता है, लेकिन मनुष्य की जीवन यात्रा की ये तीनों अवस्थाएं एक सम्पूर्ण इकाई बनाती हैं। पश्चिम ने शायद मानव की इस सम्पूर्णता को अनदेखा किया और उसे खंडित नजरिये से देख कर विकास के मॉडल तैयार किये। दीनदयाल उपाध्याय ने इन्हीं मॉडलों के विकल्प में मानव विकास का भारतीय मॉडल दिया, जिसे बौद्धिक समाज में एकात्म मानववाद के नाम से जाना जा रहा है।

एकात्म मानववाद की अवधारणा में दीनदयाल उपाध्याय ने आज के एकांगी विकास मॉडलों की दुःखती रग पर हाथ रखा है। मनुष्य जो भी क्रियाएं करता है और जिस प्रकार के भी विकास मॉडलों को लागू करता है उन सभी का अन्तिम उद्देश्य तो सुख या संतुष्टि प्राप्त करना ही है। अर्थवादी यह समझते हैं कि ज्यादा भोग से ही सुख मिलता है, परन्तु भारतीय चिन्तन इस निष्कर्ष से सहमत नहीं है। उसके अनुसार सुख उपभोग में नहीं, बल्कि विकास की समग्रता में है, जिसमें मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा चारों का समन्वय हो। आज जब भोगवादी विकास के सिद्धांतों से दुनिया भर में सुख क्षीण हो रहा है, संसाधनों के अनुचित प्रयोग से मानव के अस्तित्व पर ही संकट आ गया है तब दीनदयाल उपाध्याय की एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है।

*****

एकात्म मानववाद की आधार परिवार संस्कृति

प्रो० गिरीश चन्द्र त्रिपाठी[1]

एकात्म मानववाद का विषय भारत के दर्शन से जुड़ा है। जीवन और जगत के उस दृष्टिकोण से जुड़ा है जिसके आधार पर भारत जगतगुरु के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। हम उस दर्शन और दृष्टिकोण पर विचार करें उससे पूर्व वर्तमान जगत की कुछ समस्याओं पर विचार करना आवश्यक होगा। आज चारों तरफ अनेक ऐसे मुद्दे हैं जो बलात् हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। हिंसा, शोषण, भेदभाव, अराजकता इनके मूल कहां स्थित हैं? हिंसा क्यों होती है? हिंसा की शुरुआत यहां से होती है कि एक मैं हूँ और एक दूसरा है। यह भावना हर जगह दिखाई देती है। इस द्वंद में कभी हम स्त्री और पुरुष के रूप में, कभी नियोक्ता और कर्मचारी के रूप में और कभी विचारधाराओं के रूप में, अपने और पराये के रूप में खड़े हो जाते हैं। मैं इस विचारधारा को मानता हूँ और दूसरा इस विचारधारा को मानता है, इस द्वंद के द्वारा ही देश और समाज हिंसा ग्रस्त हुआ है।

भारतीय मनीषा ने जगत के रहस्य का साक्षात्कार करके यह बताया कि यह सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की विग्रह है। फिर इससे जो विचार सृजित हुआ वह "**अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम, उदारचरितानामतु वसुधैव कुटुम्बकम**"। उदार चरित्र के लोगों के लिए सम्पूर्ण धरती

---

[1]कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ के तत्वावधान में महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में दिनांक 11 फरवरी 2016 को दिया गया व्याख्यान।

परमात्मा के विग्रह के रूप में एक परिवार है। जीवो ब्रह्मैव नापरः सम्पूर्ण जीव मात्र ब्रह्म ही है, इसलिए हमारे यहां दूसरे की कल्पना है ही नहीं। हमारे जीवन में, हमारे दर्शन में, जीव और जगत के प्रति हमारे दृष्टिकोण में कोई दूसरा है इसका विचार ही नहीं है। जो कुछ है सब मैं ही हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि'। इसीलिए सम्पूर्ण सृष्टि एकात्म है और एक परिवार है और यह परिवार संस्कृति ही हमारा मूल अधिष्ठान है। परिवार में भेदभाव नहीं होता। परिवार में कमाने वाला कमाता है तो न कमाने वाले का अधिकार कम नहीं होता है। परिवार में यदि कोई व्यक्ति कमाता है तो वह अपने परिवार के सभी लोगों के लिए कमाता है केवल अपने लिए नहीं कमाता। इसलिए वहां न कोई भेदभाव है, न कोई शोषण है, न हिंसा है और न ही कोई द्वंद है इसी का नाम परिवार है, क्योंकि वहां कोई मैं या दूसरे का भाव नहीं है। यह जो कुछ है सब मेरा है, सब मैं हूँ और मैं कौन हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि'।

परिवार संस्कृति में भोजन बहुत महत्वपूर्ण है। परिवार में जो भोजन बनता है, मां जो भोजन बनाती है उसके पीछे एक भावना है। यह रोटी जल न जाये जिससे हमारे पति को, हमारे बेटे को या हमारी सास को कष्ट न हो जाये, लेकिन होटल में जो भोजन बनता है उसके पीछे भाव बेचने का है। होटल संस्कृति ने बाजार संस्कृति विकसित किया और परिवार संस्कृति ने एकात्म मानववाद विकसित किया, इसीलिए हम पूरी वसुधा में इस संस्कृति का प्रचार करना चाहते हैं। यद्यपि इस संस्कृति का सम्बन्ध इस भूमि से है, क्योंकि जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो उससे भूमि जुड़ती हैं, उससे भोजन जुड़ता है, उससे भाषा जुड़ती है, लेकिन भारत में जो एकात्मता का यह विचार था वह सीमाओं से परे जाकर सम्पूर्ण विश्व को एक करने का विचार है। इसलिए दुनिया के भूमि का कोई ऐसा अंश नहीं जहां यहां का कोई न कोई महापुरुष न गया हो और परिवार संस्कृति तथा एकात्म भाव का प्रचार न किया हो। हमने इस विचार को केवल जीवन तक सीमित नहीं रखा सम्पूर्ण विश्व में प्रवाहित किया।

आज जो दूसरा विषय सबसे महत्वपूर्ण है वह मनुष्य और प्रकृति के बीच संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष परिवार संस्कृति के कारण नहीं हुआ, क्योंकि हमने पशुओं को, वृक्षों को परिवार का हिस्सा माना। हमारे यहां परिवार संस्कृति के

कारण ही भोजन करते समय इन सबके अंश निकाले जाते थे। यह एकात्म मानववाद का विचार केवल विचार तक ही सीमित नहीं था। यह हमारी संस्कृति और हमारे जीवन का हिस्सा था। भोजन करते समय व्यक्ति यह विचार करता था कि बाहर कोई व्यक्ति भूखा तो नहीं है।

हमारे यहां किसान जब भूमि पर हल रखता था तो भूमि को प्रणाम करता था। व्यवसायी जब अपनी रोजी-रोटी के लिए दुकान पर जाते थे तो वहां पर पूजा करते थे। यह संस्कृति किसी एक स्थान पर नहीं थी, अपितु कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गंगोत्री से लेकर गंगासागर तक यह संस्कृति प्रवाहित थी। हम लोगों को बाजार की दृष्टि से नहीं देखते थे। सबको अपने जैसा महत्व देते थे। हम हरे वृक्षो को नहीं काटते थे, नदी-नाले के जल को गंदा नहीं करते थे। अब इन सबके लिए कानून बनाना पड़ रहा है। हर चीज के लिए कानून बनाना पड़ रहा है, क्योंकि बाजार संस्कृति बिना कानून के नहीं चल सकती और परिवार संस्कृति में कानून कम से कम होते हैं। हमारी संस्कृति में एक अवस्था यह थी कि 'न राज्यं न च राजासित न दाण्डयम् न च दाण्डिकः। धर्मणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परं।।

न कोई राज्य था, न कोई राजा था, न कोई दण्ड था, न कोई दण्ड देने वाला था। सभी लोग परस्पर धर्म के द्वारा संचालित होते थे। आज संकट क्यों आया, क्योंकि हमें अपने को छोड़ कर किसी अन्य पर विश्वास नहीं है। आज एक देश के अन्दर अनेक देश खड़े हो गये। यह उसी बाजार संस्कृति की देन है। बाजार संस्कृति की यह देन है कि हम अपने माता-पिता को वृद्धाश्रम में रखना चाहते हैं।

आज हमे जीवन धर्म समझने की आवश्यकता है। केवल अर्थ के लिए और बाजार के लिए जीना ही जीवन का धर्म नहीं है। गीता धार्मिक ग्रन्थ है, परन्तु इस अर्थ में धार्मिक ग्रन्थ है कि वह हमे जीवन धर्म की शिक्षा देती है, जीवन क्या है यह हमें बताती है। युधिष्ठिर के पास धर्म से सम्बन्धित कोई प्रश्न आया तो उन्होंने कहा कि शर शैय्या पर पड़े भीष्म के पास चले जाओ, भीष्म मूर्तिमान धर्म हैं। अब कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति जो अधार्मिकों के लिए युद्ध कर रहा था वह धर्म का विग्रह है। भीष्म

अधार्मिकों के लिए लड़ रहे थे फिर भी उन्हें कोई अधार्मिक नहीं कहता। भीष्म पूरे मन से युद्ध लड़े और युद्ध हार गये, परन्तु भीष्म को कोई हारा हुआ मानता नहीं है। भीष्म को कोई हरा नहीं सकता था, लेकिन भीष्म युद्ध हारे, क्योंकि यह नियति थी, इसलिए उन्हें अपनी हार का उपाय स्वयं बताना पड़ा। हम क्या करेंगे यह हमारे हाथ में नहीं है, लेकिन हम कैसे करेंगे यह हमारे हाथ में हैं। भीष्म ने धर्म का पालन किया इसलिए वे परमधार्मिक थे। हम क्या करेंगे यह भले ही हमारे हाथ में न हो, लेकिन हम कैसे करेंगे यह हमारे हाथ में हैं। व्यक्ति को, सृष्टि को और परमेष्टि को ध्यान में रखकर करें यह हमारे हाथ में है। आज आवश्यकता है कि यह दृष्टि जीवन के सभी क्षेत्रों में उतारी जाये तभी हम बाजार संस्कृति से मुक्त हो सकते हैं। इस पर गहन अनुसंधान एवं चिंतन की आवश्यकता है, साथ ही साथ इसे व्यवहार में कैसे क्रियान्वित किया जाये इसके लिए भी योजना बनानी पड़ेगी।

*****

एकात्म मानव दर्शन की पृष्ठभूमि में प्रामाणिक अनुसंधानों के प्रकाश में भारतीय दृष्टि से नीतियों का निर्धारण आज की महती आवश्यकता है। इससे ही भारत का उज्ज्वल भविष्य साकार हो सकेगा।

'अशोक सिंहल'

अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002
फोन एवं फैक्स : 91-532-2466563, मो0 919453929211
E-mail : nationalthought@gmail.com

अभ्युत्थानं सर्वस्य

Price : ₹100/-

978-81-931312-3-7